सिद्धयोग

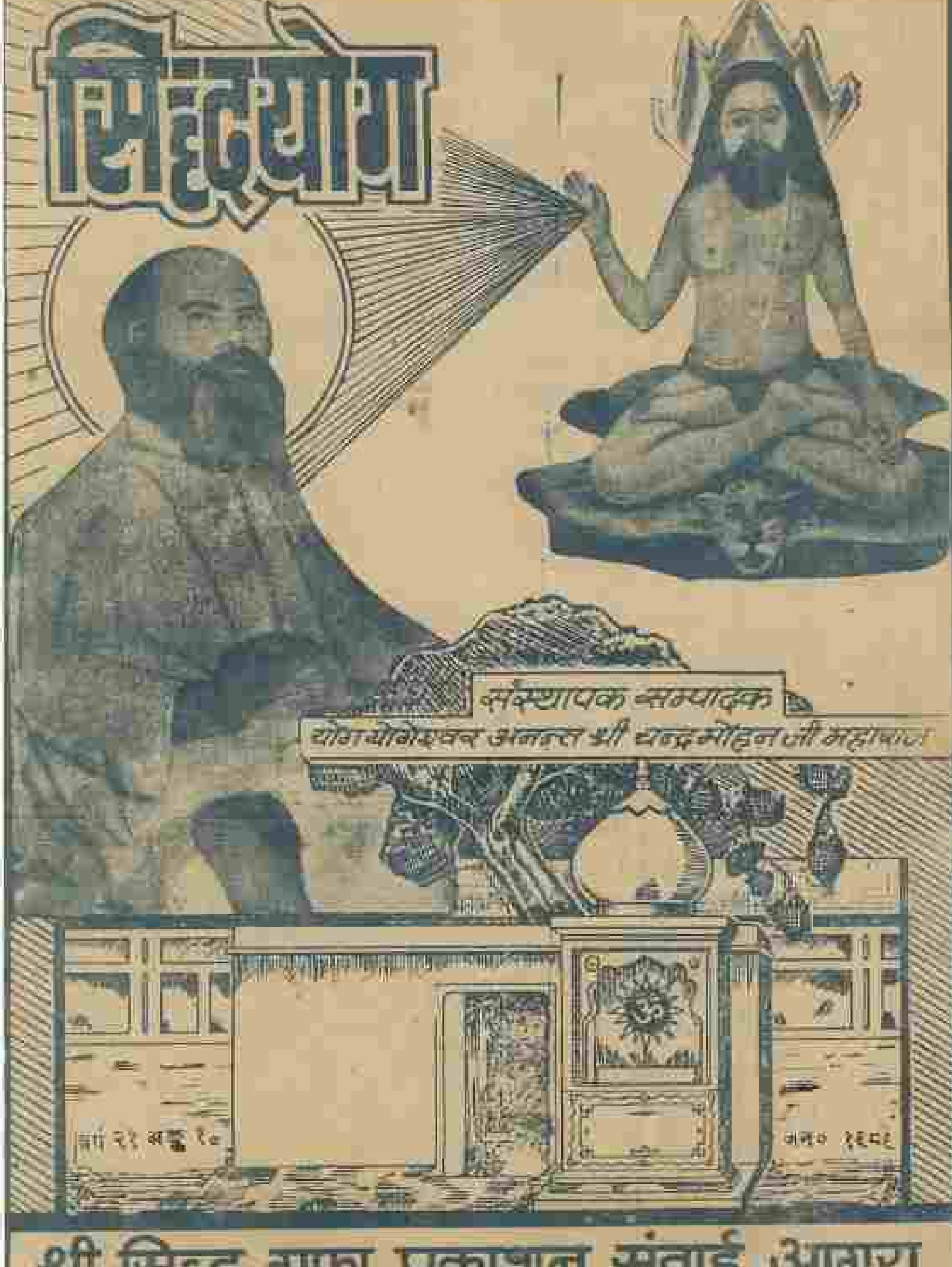

संस्थापक सम्पादक
योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष २१ अङ्क १० जनव० १९८६

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन संवाई, आगरा

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा
सवाँई
आगरा

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

जनवरी
१९८९

इस अंक के लेख—

★ सूर्यं देवा अजपलम (प्रार्थना) १

★ साधन योग एवं उसकी सफलता का क्रम (विशेष लेख) २
● योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

★ सन्त चरणदास एवं उनकी जीवन साधना ५
● श्री डा० विजयसिंह

★ आइए समझें—अपने को और अपने शरीर को ६
● श्री दर्शनानन्द

★ समन्वयवादी तुलसी : रामचरितमानस के सन्दर्भ में १३
● डा० श्री महेश कुमार कौशिक

★ ज्ञान के बीज का धर्म १८
● श्री सुधीरकुमार माहेश्वरी

★ यस्मन् विज्ञाते सर्वमेव विज्ञातं भवति २०
● श्री राजेन्द्रप्रसाद पाठक

★ कर्म, विकर्म, अकर्म का स्वरूप २५
● वैद्य श्री रामधन शर्मा शास्त्री

★ योग और नारी २८
● डा० श्री शिवशंकर उपाध्याय

★ सांसारिक दुःखों के उपाय ३०
● डा० राजकुमारी मिश्रा

★ जिज्ञासु का कर्त्तव्य ३३
● श्री विष्णुप्रसाद व्यास

★ योग के सहायक एवं बाधक तत्त्व ३६
● श्री ऋद्धिराज वाशिष्ठ

★ प्राण क्या है ? ४०
● ब्र० ओमप्रकाश पालीवाल

★ जीवनमुक्त पुरुष के लक्षण ४३
● डा० श्री जगदीशनारायण उपाध्याय

★ दश दिशा में—चपला मुखी देवी की उपासना ४५
● श्री राजन जैसवाल

★ महिलावतार : श्री गोपी ४७
● महेन्द्रप्रकाश गुप्त

वार्षिक मूल्य ३५ रुपया । इस अङ्क का ४ रुपया

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष २१ अङ्क १०	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुखं विवृत्तो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः। तत्प्राप्त्यर्थं बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशान्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥	जनवरी १९८९

सूर्य देवा अजनयम

प्राणेनाग्निं सं सृजति वातः प्राणेन संहितः।
प्राणेन विश्वतोमुखं सूर्यं देवा अजनयम॥

—अथर्व वेद, काण्ड ११ मन्त्र २०३

अर्थात्

परमेश्वर (प्राणेन) प्राण के साथ (अग्निम्) अग्नि का (सं सृजति) संसर्ग करता है। परमेश्वर ने (प्राणेन) प्राण के साथ (वातः) वायु को (संहितः) सम्बद्ध किया है। (देवाः) परमेश्वरीय दिव्य शक्तियों शक्तियों ने (विश्वतोमुखम्) सबसे मुखिया (सूर्यम्) सूर्य को (प्राणेन) प्राण के साथ-साथ (अजनयन्) जन्म दिया है।

अभिप्राय यह है कि परमेश्वर ने अग्नि, वायु, और सूर्य में प्राण-शक्ति भरी हुई है। इसलिए अग्नि या यज्ञाग्नि, शुद्ध वायु और सूर्य के सेवन द्वारा मनुष्यों को जीवन में प्राणशक्ति का संचय करना चाहिए।

हमारा विशेष लेख—

साधन योग एवं उसकी सफलता का क्रम

योग-योगेश्वर अनन्त
श्री चन्द्रमोहनजी
महाराज

हमने इससे पहले किसी एक लेखमें 'सिद्धयोग' का स्वरूप स्पष्ट रूप से समझा दिया है। किन्तु 'सिद्धयोग' की प्राप्ति केवल मात्र सिद्ध-गुरुओं की अनुकम्पा से ही हो सकती है। बिना सद्गुरु कृपा के सर्व साधारण को 'सिद्धयोग' का प्राप्त कर लेना सहज नहीं होता। फिर भी सद्गुरु के अभावमें किसी भी व्यक्ति को पुरुषार्थ रहित हो करके अपने आपको निःसहाय बनाकर नहीं छोड़ना चाहिए। प्रत्युत उसे पुरुषार्थ रत रहना ही चाहिए। नीतिशास्त्र का वचन है—

उद्योगिनं पुरुष सिंहमुपैति लक्ष्मी।
दैवं हि दैव इति कापुरुषा वदन्ति ॥

अर्थात्—जो व्यक्ति दृढ़ लगन के साथ पुरुषार्थ रत रहते हैं वे अपने लक्ष्य को पा जाया करते हैं। और जो इसके प्रतिकूल भाग्य के भरोसे ही पड़े रहते हैं वे पौरुषहीन अथवा कायर कहलाते हैं। योगदर्शन के सिद्धान्त के अनुसार साधना करने वाले साधकों की नौ प्रकार की श्रेणियाँ बतलाई गई हैं। इनमें से एक साधक मृदु अधिकारी अर्थात् साधारण जिज्ञासु दूसरा मध्याधिकारी मृदु से ऊँची लगन वाला और तीसरा उत्तमाधिकारी वह कहलाता है जो अपने पूरे जीवन को दृढ़ता के साथ साधना में लगाये रहता है और संयम-नियम के साथ प्रयत्नशील बना रहता है।

यह साधकों के तीन अधिकार-भेद हैं। इनमें भी कोई साधक ऐसा होता है जो हल्की लगन का होता है। उसको मृदु संवेग साधक कहते हैं। इसके बाद मृदु संवेगसे अधिक पुरुषार्थशील है उसे मध्य अधिकारी और तीसरा वह जो अधिमात्र संवेग का है। इनके भी भाग फिर तीन प्रकार में बट जाते हैं। जैसे मृदु संवेग उत्तमाधिकारी, मध्य संवेग उत्तमाधिकारी और तीव्र संवेग उत्तमाधिकारी। इसमें से भगवान पतञ्जलि देव का वचन है कि—

तीव्र संवेगानाम् आसन्नः समाधि लाभः समाधि फलं च भवति।

पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी के इस लेख से योग-साधकों को यह समझने में बड़ी सहायता मिलेगी कि समाधि-लाभ के लिए, अधिकारी भेद के सर्वोत्तम अधिकारी बनने के लिए, उन्हें कितनी दृढ़ता और कितनी तीव्र संवेगशीलता की आवश्यकता है।

—सं० सम्पादक

अर्थात्—जिनका उपाय भी प्रबल है और संवेग भी तीव्र है वह पुरुषार्थ करने पर समाधि को पा जाया करते हैं। ऐसे साधक को उत्तम अधिकारी माना जाता है जो परम उत्साही हो और दृढ़ विचार के साथ अपनी साधनामें लगा रहने वाला हो। जिसके मनमें यह धारणा बनी रहती हो कि 'देहम् वा पातयम् कार्यम् व साधयेयम्' अर्थात् मैं अपने शरीर को भले ही छोड़ दूं पर मरणान्त तक पूरा प्रयत्न करता रहूँगा और अन्ततः अपने लक्ष्य को सिद्ध करके रहूँगा। ऐसी तेज लगन वाले साधक के लिए उपाय भी कोई उत्तमोत्तम होना चाहिए जिससे वह सफलता के परम लक्ष्य को जल्दी से जल्दी पा सके। इसको उदाहरण के साथ इस प्रकार समझ लेना चाहिए कि जैसे कोई व्यक्ति कलकत्ता या बम्बई जाना चाहता है और पैदल चलकर पहुँचना चाहता है तो वह प्रयास करता हुआ पहुँच तो जायेगा किन्तु उसको पहुँचते-पहुँचते चार या छः महीने लग जाना स्वाभाविक होगा। इसके बाद जो साइकिल आदि से जाना चाहें उनको भी दो-एक सप्ताह लग ही जायेंगे, और इसी प्रकार ट्रेन से जाने वाले को भी एक या दो दिन लग ही जावेंगे किन्तु इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति हवाई जहाज से जाता है तो उसका दिल्ली से कलकत्ते का सफर केवल डेढ़ या दो घण्टे का ही होगा। इसी प्रकार से यदि कोई मनुष्य तेज (तीव्र) उपाय वाला है और तेज लगन वाला है तो उसके लिए भगवान पतञ्जलि देव आदेश करते हैं कि 'आसन्नः समाधि लाभः समाधि फलं च भवति'। अर्थात् ऐसी लगन व तेज उपाय वाले व्यक्ति के लिए जल्दी ही समाधि प्राप्त हो जाती है और समाधि से होने वाली सिद्धियाँ भी उसको तत्काल मिल जाया करती हैं। अब इस प्रकार से उत्तमाधिकारी एवं पूर्ण प्रयत्नशील साधक किस प्रकार से समाधि को प्राप्त कर लिया करते हैं उनके लिए योगदर्शन के साधन पाद के आरम्भ में भगवान पतञ्जलिदेव ने एक सूत्र के अन्दर तीन साधनाओं का निर्देश किया। वह इस प्रकार है:

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।

अर्थात्—तप स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रणिधान यह क्रियायोग कहलाता है। इस सूत्र पर श्री व्यासदेवजी भी भाष्य करते हुए दो तीन पंक्तियाँ लिख रहे हैं:

नातपस्विनो योगः सिद्धयति। अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सभेदमापद्यते इति तपसउपादानम् तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते। स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा।

अर्थात् अनन्त कालसे फैला हुआ वासना जाल बिना तप किये नहीं छूट सकता, इसलिए यहाँ तप का ग्रहण करना जरूरी हो गया है। वह तप जिसमें मन को कोई कष्ट या विघ्न-बाधा न हो, उस प्रकार से करना चाहिए। स्वाध्याय का अर्थ है परमात्मा के नाम ओंकार आदि का जप व मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है कि उस परम गुरु को पूर्ण आत्म-समर्पण या कर्म फलों का पूर्ण रूप से त्याग करना। इसमें

तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये तीनों साधनायें सोपान क्रम की तरह से एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध चलती हैं और जो साधक पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत को सिद्ध कर लेता है, वह साधक अणिमादि ऐश्वर्यों का अधिकारी बन जाता है। अखिलात्मा विश्वपावन भगवान श्रीकृष्णजी ने तप का सर्व साधारण के हित के लिए तीन प्रकार से वर्णन किया है। यह इस प्रकार से है—

देव द्विज गुरु प्राज्ञ,
पूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च,
शारीरं तप उच्यते॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं,
सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्याभ्यसनं चैव,
वाङ्मयं तप उच्यते॥
मनः प्रसादः सौम्यत्वं,
मौनमात्म विनिग्रहः।
भाव संशुद्धिरित्येत,
तपो मानसमुच्यते॥

अर्थात् देवताओं का पूजन, करना ब्राह्मणों का सम्मान करना, गुरुदेव की आज्ञाओं का पालन, बुद्धिमानों का सम्मान करना, शरीर, मन व काय शुद्धि रखना, पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्य का पालन या किसी को भी दुःख न देना। यह शारीरिक तप कहलाता है। इसके अतिरिक्त सत्य बोलना व प्यारा सत्य बोलना, हितकारी वचन कहना और वह वचन इतने अच्छे ढंग से कहे जाएँ, जिनको सुनने से दूसरे के मन में उद्वेग न हो यह वाणी का तप कहलाता है।

इसके अतिरिक्त मन की प्रसन्नता, सौम्यता धारण करना और व्यर्थ वाणी न बोलकर उचित वचन बोलना व मौन रहना, अपने मन व इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना, भाव को शुद्ध रखना यह मानस तप कहलाता है। ये तीनों प्रकार के तप इस प्रकार के हैं। यदि कोई व्यक्ति इनको अपने जीवनमें घटित कर लेता है तो सहज में ही देवत्व को प्राप्त कर लेता है। वैसे योग-दर्शन में व्यास भाष्य के अन्दर तप का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् व्यासदेवजी ने लिखा है कि सर्दी, गर्मी एवं भूख-प्यास आदि के जोड़े को सहन करना तप कहलाता है। लोक में कितने ही प्रकार के तपस्वी देखने में आते हैं, उनमें से माघ के माह की घोर शीत में गंगाजी के बर्फीले जल के अन्दर कटि-पर्यन्त अपने-आपको खड़े रखकर तप करते हैं और कितने ही तपस्वी भूख व प्यास को सहन करके अपने आश्रमों में पड़े रहते हैं। ठीक है ये लोग परम तपस्वी हैं, किन्तु जिनके जीवन में इन्द्रिय निग्रह नहीं है, वे इस प्रकार के तपोंमें फलीभूत नहीं हो सकते, क्योंकि शरीर में किसी प्रकार भी शक्ति बढ़ जाये वह शक्ति ब्रह्मचर्य नाश से तत्काल खत्म हो जाया करती है। वैसे हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है कि जो व्यक्ति इन्द्रिय-निग्रहपूर्वक तपशील है उसको कायिक और इन्द्रिय सिद्धि तत्काल उपलब्ध हो जाया करती है। योग-दर्शन के साधन पाद में भगवान् पतञ्जलिदेव अपने मुख से स्वयं कहते हैं कि—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।
—योग-दर्शन २/४३

अर्थात् तप के द्वारा चिरकालीन वासनारूप मलके क्षय हो जाने पर योगीको कायिक

(● शेष पृष्ठ ८ पर)

संत चरणदास एवं उनकी जीवन साधना

● डा० श्री विजयसिंह

सन् १२०० से भारत देश स्वतन्त्र होने तक का समय, हिन्दू समाज के लिए अत्यन्त कठिन परीक्षाओं का रहा है। इस काल में भारतीय संस्कृति के सनातनत्व को समाप्त करने हेतु विधर्मियों ने नाना प्रकार के उत्पीड़न किये। गजनवी, गोरी, गुलाम, खिलजी, तुगलक, लोदी और मुगल तथा मुगलों में औरंगजेब ने खासतौर से हिन्दुओंके अस्तित्व को मिटाने के लिए आघात-पर-आघात किये, इन्होंने बड़े-बड़े मंदिरों को तो नष्ट किया ही हजारों हिन्दुओं को साम-दाम, दण्ड-भेद से मुस्लिम होने को भी विवश किया। भारतीय जन-मानस की यह विषम परीक्षा-घड़ी थी। परन्तु उन वेद-विहित परम प्रभु ने निराश-हताश हुए सनातन धर्मावलम्बियों के बीच इसी काल में वैष्णव-भक्तिका प्रवाह महाप्रभु चैतन्य द्वारा तथा आगे चलकर लोक-रक्षक राम भावनाके प्रवर्तक रामानन्द द्वारा प्रवाहित किया गया। इससे सगुण-निर्गुण साधनाओं का ऐसा स्रोत फूटा कि पाखण्डहीन मुमुक्षुओं को अपने अन्तर में अन्तर्यामी के दर्शन होने लगे। सगुणधारा में नाभादास, तुलसी, सूर, मीरा आदि कवि-हृदयों ने जन-मानस की हताश कुण्ठा को समाप्त किया तो दूसरी ओर निर्गुण भाव की प्रतिष्ठा वृद्धि का जो काम नामदेव, कबीर, दादू, नानक, मलूक, दरिया आदि संतों ने किया वही बहुमुखी प्रतिभा लेकर चरणदासजी ने किया। इन संतों ने उस समय धर्म को जिस प्रकार के पाखंडों ने घेर लिया था, उससे मुक्ति दिलवाई। लोग तिलक-माला, तीर्थाटन, धूनी रमाना, जटा बढ़ाना, काय-क्लेश सहना ही धर्म समझने लगे थे। इन बाह्याचारों की निःसारता संतों ने समाज को समझाई तथा अन्तरान्तरिक साधनाओं का रहस्य, जिससे आत्म-शक्ति का विकास होता है तथा वस्तुतः प्रभु के सामीप्य का लाभ होताहै बताया। ऐसा योग-आधारित साधनाओं का प्रचार इन निर्गुणवादी संतों ने किया। लोग यथार्थ साधना से हटकर ज्योतिष, टोना-टोटका, जादू, मंत्र-तंत्र को ही धर्म समझने लगे थे। महात्मा चरणदास के आध्यात्मिक प्रचार का काल औरंगजेब के बाद दिल्ली के शासक मुहम्मदशाह के समय में था। नादिरशाह का आक्रमण भी इन्हीं दिनों हुआ था। अधिकांश हिन्दू जन-मानस इस समय तात्कालिक लाभ हेतु ही धर्माचार करता हुआ दिखाई पड़ता है। संत चरणदास ने अपनी रचनाओं में लोगों के उस काल के व्यवहार का सुन्दर वर्णन किया है—

बहुतक तपसी कष्ट साध,
बहुतक पंडित पोथी बाद।
बहुतक मुंडित जटा धारि,
जहँ और पावक जारि जारि।
बहुतक मूर्ति पूजा राखि,
बहुतक भजन निठली साखि॥

यह तो रहा चरणदासजी के समय में धार्मिक परिस्थितियों का चित्रण। अब हम इस भव-प्रलय योगी संत के जीवन-परिचय को जानना चाहेंगे जो इस प्रकार है—

जीवन-परिचय—

"गुरु-भक्ति-प्रकाश" नामक रचना संत चरणदास के परम प्रिय शिष्य रामरूपजी के द्वारा की गई है। इसमें सद्गुरु चरणदास के बाल्यकाल से आगे तक के लीला-प्रकरणों का

बहुत ही भावग्राही वर्णन किया गया है। चरनदासजी का जन्म संवत् १७६० में अलवर नगर से तीन कोस दूर डेहरा नामक ग्राम में हुआ था। पिता श्री मुरलीधर और माता कुंजोदेवी थीं। पिता आध्यात्मिक रुझान वाले थे। जब चरणदास छोटे ही थे, उसी समय वे गृह-त्यागकर कहीं चले गये। पितामह की देखरेख में इनका शैशव बीता। बाल्यकाल के चौथे वर्ष से ही ईश्वर नाम की ओर अत्यधिक रुझान इनका लोगों ने देखा था। पाँच वर्ष की अवस्था में वह सूर्योदय से एक पहर पूर्व जग जाते थे और ब्रह्मध्यान में संलग्न रहते थे। उनके इस व्यवहार के कारण लोग इन्हें बौरा और बुद्धिहीन समझते थे। पांचवें वर्षमें ही एक आश्चर्यजनक घटना घटित हुई। जब वे बालकों के साथ खेल रहे थे, एक दिव्य कांतिवान कौपीनमात्र धारी महापुरुष और चरणदास (जिनका पूर्व का नाम रणजीत था) को बुलाया तथा स्नेह करते हुए कंधे पर बिठा लिया। पेड़े खिलाये और शक्तिपात दीक्षा देकर कहा—

हंस के कहा मोहि चेला किया,
कर धरि शीश भक्ति वर दीया।
तारन-तरन जगत में तू हो,
बहुत उधार जीव सें जैहों।
जो कोई मंत्र तुम्हारा सुनिहै,
सो निहिचे यमपुर नहिं जैहै।
छत्रपती और राजा राना,
गहिहैं तुम चरणन की छाया।
शीश निवा सबही वर लीना,
उतार गोद चरनन शिर दीना।।

इस घटना के पश्चात् शक्तिपात के फलस्वरूप चरनदास के जीवन में अध्यात्म लहर हिलोरे लेने लगी। इधर शुभ-चिंतक माता, पितामह इनकी लौकिक शिक्षाके प्रति सचेष्ट हुए। बहुत प्रयासों के बाद भी पाठशाला की शिक्षा ग्रहण नहीं कर सके। अन्तर्लोक में चल रहा आनन्द-मेला बालक चरणदास की सम्पूर्ण वृत्तियों को अन्तर्मुखी किये हुए था। अतः पठन-पाठन बाल्यकाल में न हो सका। उस समय बाल-विवाह की प्रथा भी थी। वैसे भी इनके पितामह इनको बहिर्मुख करने के लिए विवाह की बात चला डाली, परन्तु इन्होंने विवाह करने से इन्कार किया तो किसी भी तरह विचार से डिगाया न जा सका। इस पर आठ वर्ष की छोटी अवस्था में ही सिद्ध-अनुकम्पा हो जाने से इनकी अन्तर्मुखता अत्यन्त बढ़ गई। दिन-रात ध्यान में डूबे रहने लगे, नेत्र से श्रीकृष्ण के विरह में अश्रुधारा बहती रहती थी। कई-कई दिन बेसुध घर में पड़े रहते, दीन-दुनिया की कोई खबर इन्हें नहीं रहा करती थी। दो-तीन वर्ष ऐसी ही अवस्था बनी रही।

वर्ष ग्यारवें की अद्भुत बात पुनीत।
प्रेम पौध उगी हिये श्री श्याम सू प्रीत।।
प्रेम वृक्ष बढ़ने लगा सघन भया अतिजोर।
तनमन पै छाया पड़ी बाहर आया फोर।।

बारह वर्ष की अवस्था में ही ब्रह्म-जिज्ञासा इतनी अधिक जागृत हुई कि जिस-तिस से "मोहे गोविन्द कैसे सूझे" पूछा करते।

लागा नेह देह सुध नाहीं,
खान-पान सब बिसराहीं।
कबहूं नैनन सों जल-धारा,
उठै प्रेम नहिं जाय संभारा।
श्याम मिलन की मन में आवं,
घर बाहर कछु नाहि सुहावे।
मिलें साधु जासूं यहि बूझें,
मोहे गोविन्द कैसे सूझें।।

एक बार किसी व्यक्ति ने कहा कि गुरु के

उपदेश बिना गोविन्द को कौन बता सकता है। तबसे सद्गुरु की तलाश इन्होंने जारी कर दी।

ढूंढ़े योगी अरु सन्यासी,
ढूंढ़े सब मत पंथ उदासी।
सद्गुरु कूं ढूंढ़न ही लागे,
ढूंढ़े विरक्त तपसी नागे॥

× × ×

खोज-खोज पचि-पचि करि हारा,
लाभ मिलाय करे सुख सारा।

इस प्रकार कई वर्ष व्यतीत हो गये। सद्गुरु-दर्शन एवं ब्रह्म-मिलन की उत्कण्ठा तथा बचपन में हुए शक्तिपात की गहन एकाग्रता से वे सदैव विह्वल रहा करते थे। तन-मन की सुधि खो गई, विरह-अग्नि दिन प्रति दिन बढ़ती गई।

ताते विरह अग्नि तन जारे,
बौरे भये देह अंग सारे।
बस्तर पहरन की सुधि नाई,
दस-दस दिवस होहि बिन खाई॥

× × ×

दो-दो मास रहे बन मांही,
होहि व्यतीत रात दिन ताहीं।
ऐसे लगा वर्ष उन्नीसा,
आनि कवे अहं गोखा तीसा॥

वे २९ वर्ष के होने पर एक दिन गंगाजी के तट पर अनशन करके बैठ गये कि जब तक सद्गुरु-दर्शन नहीं होगा तब तक उठना नहीं है, ऐसा प्रण बना लिया था। कई दिन बीतने पर ध्यान में श्री गुरुदेवजी महाराज ने दर्शन दिये और आकाशवाणी हुई कि शुकतारा पर आओ। वहाँ जाने पर वृक्ष के नीचे बैठे इनको सद्गुरु के दर्शन हुए। इस घटना का वर्णन देखें—

तबौ अजानक पुरुष हवा,
लघु तरवर की छांहि।
किशोर अवस्था सावरी,
तन में बस्तर नांहि॥
आसन पद्म महादृढ़ किये,
बैठे नैयन के पट दीये।
मन को हरि की ओर लगाये,
ध्यान मांहि अस्थिर छकछाये॥

ऐसे अलौकिक महापुरुष को सद्गुरु रूप में पाकर चरनदासजी धन्य-धन्य हो उठे। प्रसन्नता और प्रेमके प्रवाह में दौड़कर चरणों में लिपट गये और दीक्षा हेतु प्रार्थना की। एकान्त में इनकी दीक्षा किस प्रकार से की गई, इसका वर्णन भी अतिरोचक है, देखें—

ऋषि ने बूटी इक तब हवाई दई बताय,
वाको पीसो तोड़िकें फिर मोपे ले आय।
जब बूटी महाराज के तोड़ी पीसी लाय,
सतगुरु के करमें दई चरनन शीश नवाय।
ऋषि ने तब परसन्न हो लिया पास बैठाय,
हँसकर सिर नंगा किया बूटी दई लगाय।
सारे सिर पर लेपन कीन्ही,
घड़ी एक लागे जब चीन्ही।
फिर न्हाने की आज्ञा दई,
जभी पोखरी हुना इक भई॥
भक्ति राम न्हाये तिहि माहीं,
पहले धोक हाथ सिर माई।
मलकर शीश नीर से धोया,
उतर बाल सब निरमल होया॥
न्हाय आय बैठे जब पास,
ऋषि कही शंकर पिवला दास।
माथे तिलक सिलमिली कीया,
श्री कोती रेखा कहि दिया।
अरु गुरु मंत्र जु कान सुनाया,
उतर विधि नित नेम बताया॥

इन अलौकिक महापुरुष ने नवयुवक चरनदास को और कम जड़ी बूटी द्वारा कराके अलौकिक ज्ञान तरणी में स्नान करवा कर मन्त्र दान के साथ नियम, उपासना पद्धति तथा प्राणायाम का मर्म बताया था। जिसके परिणामस्वरूप तीव्र लगन से लगकर अध्यात्म के निगूढ़ मंजिलों को इन्होंने जल्दी ही तय कर लिया। सन् १७२६ में व्रजधाम की यात्रा इन्होंने की। कहा जाता है कि इस यात्रा में उन्हें साक्षात् भगवान श्रीकृष्ण, राधिकाजी तथा उन ऋषिवर गुरुदेव का दर्शन लाभ हुआ। पाँच पहर ध्यानाभ्यास में ही रत रहा करते थे।

साधक शिष्यों के अनुनय करने पर आकाश गंगा में स्नान कराना तथा अनशन रत एक गोसाईं पर शक्तिपात कर गोविन्द के दर्शन कराने अथवा पुत्र कलश के रूप में आशीर्वाद देना व पठित हुआ। इस प्रकार के अनेक अलौकिक कार्य लोगों में यथार्थ योग जिज्ञासा पैदा करने के लिए समय समय पर इन्होंने किये।

चरणदासजी ने महाप्रयाण के दो दिन पूर्व ही अपने शरीर त्यागने की तिथि व समय शिष्यों को बता दिया था। अपने अंतरंगों को उन्होंने बताया कि जिस काम हेतु इस संसार में आना हुआ था वह अब पूर्ण हो गया है। परन्तु तुमसे कभी पृथक नहीं हूँ। श्रद्धा और सद्गुरु से स्नेह रखो। इस संसार में रहते हुए जब भी मेरा ध्यान करोगे, मुझे अपने हृदय में पाओगे।

(● पृष्ठ ४ का शेष)

और ऐन्द्रिय सिद्धि की उपलब्धि हो जाया करती है। इस पर पढ़िये व्यास-भाष्य की पंक्तियाँ—

निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्या-
वरणमलं तदावरणमलापगमात्काय-
सिद्धिरणिमाद्या। तथेन्द्रियसिद्धिर्दूरा-
च्छ्रवणदर्शनाद्येति।

अर्थात् तप के द्वारा अशुद्धि रूप मल व आवरण के क्षय हो जाने पर कायिक और ऐन्द्रिय सिद्धि स्वतः ही उपलब्ध हो जाया करती है। हमारे आश्रम में बहुत से साधु-ब्रह्मचारी इस प्रकार के हुए हैं, जिनको कायिक और ऐन्द्रिय सिद्धि उपलब्ध हुई। इनमें सबसे पहले मैं अपने योग्यतम बच्चे जिन्होंने १२ मई, सन् ७८ को फीरोज़ाबाद में अपना शरीर त्याग दिया, उन्हीं का नाम बतला देना चाहता हूँ। हमने इनको [illegible] में दीक्षा देने के बाद बहुत ही कठिन तपश्चर्या कराई। जिसके परिणामस्वरूप उनको दूर-श्रवण और दूर-दर्शन की योग्यता प्राप्त हो गयी। जो इनके संयम-नियम एवं तपश्चर्या का उत्कृष्ट प्रमाण थी। इससे मनाई गांव के निवासी बड़ी उम्र के लोग सभी जानते हैं।

इसके अतिरिक्त संसारसिंह, श्यामबिहारी शुक्ल, अवधूत योगी आदि और भी बहुत से हमारे पास निजी बच्चों का उदाहरण है, जिनको दूर-दर्शन, दूर-श्रवण की योग्यता प्राप्त हुई। यह तप की साधना का उत्कृष्ट प्रमाण है। (क्रमशः)

आइए हम समझें—

अपने को और अपने शरीर को

● श्री दर्शनानन्द

(२)

(गतांक से आगे)

मन का स्वरूप शक्ति और सामर्थ्य

इसी शीर्षक के अन्तर्गत हमने गत अंक में आन्तर इन्द्रिय मन और पुरुष के प्रारम्भिक स्वरूप को समझाने का प्रयास किया था। हमारी स्थूल देह के अन्तर्गत जो सूक्ष्म शरीर कार्यरत रहता है मन उसका एक प्रमुख उपकरण कहा जा सकता है। मन में सत्व रज तम तीनों ही वर्तमान रहते हैं पर इनमें रजोगुण प्रधान रहता है अथवा यों समझिए कि मन के निर्माण में रजोगुण का अधिकांश रहता है। इस रजोगुणके अधिकांश के कारण ही यह सदा चंचल बना रहता है। चंचलता इसका अपना गुणधर्म होता है। चूंकि आत्मा (पुरुष) की इच्छा पूर्ति के लिए प्रत्येक इन्द्रिय के साथ लगकर विषय-भूमि तक पहुँचाने में मन को ही मुख्य रूप से अपना कर्तव्य पालन करना पड़ता है—यदि रजोगुण प्रधान होनेके कारण इसमें चंचलता का गुण न होता तो यह अपने इस दायित्व का निर्वाह उचित रूपेण आवश्यकतानुसार कर ही न पाता। इस दृष्टिसे चंचलता मनका दोष नहीं वरन् इसका स्वाभाविक गुणही कहा जा सकता है। अलबत्ता जब हम ध्यान योग का आश्रय लेकर समाधि लाभ लेना चाहते हैं तब इसकी चंचलता बाधक बनकर साधक को लक्ष्य तक नहीं पहुँचने देती। ध्यान योग द्वारा समाधि लाभ तभी हो सकता है जबकि मन को चंचलता से हटाकर उसे स्थिरता की ओर मोड़ लिया जाय। मन के स्वाभाविक गुण चंचलता से अलग करके कैसे उसमें स्थिरता लाई जाय, यह प्रश्न सामने है।

निस्सन्देह यह प्रश्न विचारणीय है। अर्जुन ने यही प्रश्न भगवान कृष्ण के सम्मुख कुरुक्षेत्र के युद्ध में उस समय था उपस्थित किया था—जब वे उसे स्थितप्रज्ञ बनने का उपदेश दे रहे थे। भगवान ने उसकी असमंजस को स्वीकार करते हुए मन को दुर्निग्रही तो बताया लेकिन साथ ही साथ उन्होंने यह भी बता दिया कि 'अभ्यास और वैराग्य' का आश्रय लेकर मन की चंचलता और अस्थिरता पर काबू पाया जा सकता है। प्रकारान्तर से भगवान पतंजलि ने भी यही उपदेश योग-दर्शन के प्रारम्भिक सूत्र में योगश्चित्त वृत्ति निरोधः सूत्र द्वारा दिया है। उनका यह कथन सत्य के अति निकट है कि योग-साधना की प्रथम सीढ़ी—चित्त की वृत्तियों के निरोध कर लेने के उपरान्त ही आगे बढ़ने का मार्ग प्रस्तुत करती है। इसी योगदर्शन के प्रथमपाद के तीसरे सूत्र में—

'तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' का उल्लेख करके यह भी बता दिया गया है कि चित्त की वृत्तियों के निरोध सध जाने के बाद ही साधक अपने निज स्वरूप में स्थित हो पाता है। दूसरे शब्दों में निज स्वरूप में स्थित हो जाने का अर्थ ही होता है कैवल्य की प्राप्ति हो जाना।

मन की चंचलता मिटाकर उसे स्थिर बनाने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने अभ्यास और वैराग्य की साधना करने का जो उपदेश अर्जुन को दिया है वही यथावत् पतञ्जलि भगवान ने समाधि पाद के सूत्र संख्या १२ में योग साधकों को दिया है। यथा :

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।

अगले सूत्र सं० १३ में अभ्यास की परिभाषा करते हुए महामुनि पतञ्जलि ने कहा है कि ऐसा करने के लिए जो यत्न किया जाता है वही अभ्यास कहलाता है।

यह अभ्यास अथवा इसका प्रयत्न जब लगातार नियमपूर्वक रहता और श्रद्धापूर्वक किया जाता है तो निश्चित रूपेण सफलता प्राप्त करने वाला बन जाता है। मन के स्थिर या वश में हो जाने पर उसकी विषयोन्मुखी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी बनकर इन्द्रियोंको, जिन्हें अत्यन्त बलशाली बताया गया है विषयों विषयों से उदासीन बना जाती हैं। इनका विषयों की ओर से उदासीन बनकर सर्वथा तृष्णा रहित हो जाना ही वैराग्य कहलाता है। दूसरे प्रकार से यों भी समझिए कि प्रकृति-जन्य विषयों में राग का न होना ही वैराग्य कहा जा सकता है।

दुनिग्रही, मन, प्रकृति-जन्य विषय-भूमि से हटकर तभी एकाग्र होगा, जब उसे अन्तर्मुखी बनाकर परब्रह्म के अनिर्वचनीय आनंद में रत कर दिया जाय। नाम-स्मरण और नाम-जप का उद्देश्य भी मन को ब्रह्मानन्द में डुबो देना ही होता है। ऐसा हो जाने पर ही भगवान वेद के शब्दों में मन-ज्योतियों ज्योतिरेकं का रूप धारण कर लेता है। संकल्प-शक्ति की सार्थकता भी ऐसे ज्योतिष्मान मन पर ही आधारित रहती है। अतः मनको शक्ति-सम्पन्न बनाने के लिए उसे शिव संकल्पमय बना डालना चाहिए। ऐसा मन बनाने के लिए वेदके निम्नलिखित पाँच मन्त्र जिन्हें अर्थ सहित हम यहाँ नीचे दे रहे हैं, हमारे नित्य प्रति के स्वाध्याय और मनन के आवश्यक अंग बन जाने चाहिए। इनके नित्य जप से आप न केवल मन को शिव संकल्पमय बना सकेंगे, अपितु उसकी अपरमित शक्ति का भी परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

यजुर्वेद के पाद में छः मन्त्र उनके अर्थ सहित नीचे दिए जा रहे हैं।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं
　　तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं
　　तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

अर्थात्—हे प्रभो ! मेरा दिव्य शक्तिवाला जो मन जागते हुए या न सोते हुए भी दूर दूर तक जाता है—चिन्तन करता है, जो सभी ज्ञान-साधक इन्द्रियों का प्रधान ज्योति प्रकाशक है, वह मेरा मन आपकी कृपा से शुभ विचारवाला होवे।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो
　　यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां
　　तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

अर्थात्—हे प्रभो ! जिस मन की सहायता से मनस्वी धीर पुरुष विशेष ज्ञानपूर्वक किये जाने वाले यज्ञों में कर्तव्य=करने योग्य कर्मोंको करते हैं, जो शरीरों के भीतर अपूर्व पूजनीय रूप में विद्यमान है, वह मेरा मन आपकी कृपा से शुभ विचारों वाला होवे।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

अर्थात्—हे प्रभो ! जो मेरा मन ज्ञान का साधन और चेतना का आधार है, जो जो शरीरों में छिपा हुआ, मरणधर्म-रहित, ज्ञान का प्रकाशक है, जिसकी सहायता के बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता, वह मेरा मन आपकी कृपा से शुभ विचारों वाला होवे ।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परि-
गृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

अर्थात्—हे प्रभो ! जिस मन से अपनी चिन्तन शक्ति से भूत वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालों को पकड़ रखा है, जो सभी कालों के कार्यों का चिन्तन करने का सामर्थ्य रखता है, और जिस मन की शक्ति से सात होताओं द्वारा किये जाने वाले शुभ कर्म का अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त यज्ञ किए जाते हैं, वह मेरा मन आपकी कृपा से शुभ विचारों वाला होवे ।

यस्मिन्नृचः सामयजूँषि यस्मिन्
प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तँ सर्वमोतं प्रजानां
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

अर्थात्—हे प्रभो ! जिस मन में रथ-नाभि में आरों के समान सब प्रकार का ज्ञान-विज्ञान ठहरा हुआ है, जिसमें प्राणियों की चिन्तन-शक्ति वस्त्र में सूत के समान ओत-प्रोत है, वह मेरा मन आपकी कृपा से शुभ विचारवाला होवे ।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्ने-
नीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥

अर्थात्—हे प्रभो ! जैसे उत्तम कुशल सारथि घोड़ों को लगामों की सहायता से इच्छानुसार गन्तव्य स्थानों को प्राप्त करता है, वैसे ही मन अपनी दुर्दमनीय शक्तियों से बलवान् मनुष्यों को भी इधर-उधर भटकाता रहता है । जो चेतना-स्थान में स्थित है, चञ्चल और शीघ्रगामी या बलवान है, वह मेरा मन आपकी कृपा से शिव संकल्प वाला होवे ।

इन सभी उपरोक्त मन्त्रों का सार भी यही है कि मन रूपी सर्वोत्तम ऐसा एक ज्योतिष्मान उपकरण आपके पास है जिसे शिव संकल्प यानी सद्भावनाओं और सद्कामनाओं के रंगमें डुबोकर आप जीवन के अभीष्ट फल की उपलब्धि कर सकते हैं । मन, इन्द्रिय ही एक ऐसी इन्द्रिय है जो शेष सभी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को सहयोग देकर अथवा उनसे निकटतम सम्पर्क स्थापित करके उन्हें कार्योन्मुख बनाया करती है । मन इन्द्रिय की एक विशेषता यह भी है कि एक समय में एक ही विषयको ग्रहण किया करती है । एक साथ दो विषयों को ग्रहण करना इसके वश की बात नहीं रहती । जब वह शिव-संकल्पों या सद्भावनाओं का मनन अथवा चिन्तन करता रहेगा तो दुर्भावनायें और बुरे सङ्कल्प इसके पास पहुंच ही नहीं पायेंगे । इस दृष्टि से वेद के उपरोक्त मन्त्रों का स्मरण, जप, मनन और चिन्तन जरिबको

उज्ज्वल बनाने वाले प्रवृत्तियों तथा साधकों को सदैव करते रहना ही श्रेयस्कर रह सकता है। इसीलिए इन वैदिक मन्त्रों को नित्य कर्मों की शृंखला में सम्मिलित करना उचित समझकर आचार्यों ने इनके नित्य पाठ की सुव्यवस्था कर डाली है।

शिव-सङ्कल्पोंसे प्रभावित मन ही स्थित-प्रज्ञ बनकर शाश्वत शान्ति और समाधि के अनिर्वचनीय आनन्द को प्राप्त कराने का कारण बना करता है। ऐसे ही मन को वशीकार संज्ञक मन भी कहा जाता है। मन के व्यापक प्रभाव व उसकी शक्तिमत्ता के कारण ही सूक्ष्म शरीर के एक आयतन को, मनोमय आयतन का नाम दिया गया है क्योंकि मनःशक्ति ही इस आयतन में प्रमुख रूपेण गतिशील रहा करती है।

मन का निर्माण और पोषण

मन सदा शिव संकल्प और सद्भावनाओं का आगार बना रहे इसके लिए न केवल शिवसंकल्प मन्त्रों का जप और पठन-पाठन आवश्यक है वरन यह भी जरूरी है कि इस मन को सत्त्वगुण सम्पन्न या सद्भावनाओं से संयुक्त बनाये रखने के लिए अपने आहारको भी सात्विक बनायें। आहार और मन का घना सम्बन्ध सदैव बना रहता है। हमारे मन का निर्माण और पोषण हमारे प्रतिदिन के आहार के सूक्ष्म अंश से ही होता है। इसीलिए यह कहावत है कि जैसा खाय अन्न वैसा बने मन। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने भी श्रीमद्भगवद् गीता में शुद्ध सात्विक मन बनानेके लिए शुद्ध सात्विक आहार पर बड़ा बल दिया है। उनका आहार परिमित और नियमित तो होना ही चाहिए—सात्विक रस वाला रहित और हृदय को बल देने वाला तथा मन को प्रसन्नता प्रदान करने वाला भी होना चाहिए। साथ ही यह भी जरूरी है यह कि शुद्ध कमाई और स्वयं के श्रम द्वारा ही उपार्जित हो। अन्याय, असत्य और दूसरों के शोषण पर आधारित कमाई का आहार सात्विक मन बनाने में समर्थ नहीं हो पाता है।

आशा है अपने मन के निर्माण में साधक आहार सम्बन्धी इस शास्त्रीय नियम की उपेक्षा नहीं करेंगे।

भगवान श्रीकृष्ण का आदेश और परामर्श आहार के सम्बन्ध में इस प्रकार है :

आयुःसत्त्वबलारोग्य-
सुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या
आहाराः सात्त्विकप्रियाः
—गीता १७/८

अर्थात्—आयु, बल, बुद्धि, आरोग्यता सुख और प्रीति इन सबको बढ़ाने वाला तथा रसयुक्त युक्त, स्निग्ध, चिकने स्थिर शरीर में सार रूप से बहुत काल तक रहने वाले और हृदय को प्रिय लगने वाले ऐसे आहार सात्विक पुरुष को प्रिय होते हैं। इसके प्रतिकूल

कट्वम्ललवणात्युष्ण-
तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा
दुःखशोकामयप्रदाः॥
—गीता १७/९

अर्थात्—कड़वे, खट्टे लवणयुक्त अति उष्ण, तीक्ष्ण, रूखे और दाहकारक एवं दुःख चिन्ता और रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार अर्थात् भोजन करने के पदार्थ राजस पुरुष को प्रिय होते हैं। —क्रमशः

*

रामचरित मानस के सन्दर्भ में—

मर्यादावादी तुलसी

● श्री डा० महेशकुमार कौशिक

रघुकुल कमल-दिवाकर गोस्वामी तुलसीदास संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड पंडित तथा सभी शास्त्रों में पारंगत थे। आपके सम्पूर्ण साहित्य में अनुशासन तथा मर्यादा का स्वर मुखर है। हम अपनी सुविधा की दृष्टि से इस लेख को गोस्वामी जी के ग्रन्थरत्न "रामचरित मानस" तक ही सीमित रख रहे हैं।

तुलसी का मानस हमारे भक्तों का हृदयहार है। करोड़ों की संख्या में हिन्दू नर-नारी इस ग्रंथ का नियमित पाठ करने के पश्चात् ही अन्न-जल ग्रहण करते हैं। भारत के सभी छोटे-बड़े ग्रामों से लेकर प्रायः सभी कस्बों तथा नगरों में प्रतिवर्ष मानस का आधार बनाकर राम-लीलायें खेली जाती हैं। इस महाकाव्य के अध्ययन से हमें प्रेरणा मिलती है कि पिता-पुत्र, भाई-भाई, पति-पत्नी, राजा-प्रजा आदि के सम्बन्ध किस प्रकार के होने चाहिए। दशरथ ऐसे स्नेही पिता हैं कि अपने ऊपर वचन-भंग करने का कलंक लेने को प्रस्तुत हैं, किन्तु अपने प्रिय पुत्र राम को किसी भी मूल्य पर वन भेजने को प्रस्तुत नहीं हैं। वे भगवान् शिव से मन ही मन विनती करते हैं कि श्रीराम वन जाने के लिए तैयार न हों। वे दूसरे ही क्षण अपनी मनःस्थिति पर इस प्रकार प्रकाश डालते हैं—

अजसु होउ जग सुजसु नसाऊ।
नरक परौं बरु सुरपुरु जाऊ॥
सब दुख दुसह सहावहु मोही।
लोचन ओट रामु जनि होंही॥

(मानस २/४४-१)

दूसरी ओर राम भीषण से भीषण संकट सहन करते हुए भी अपने पिता के यश को धूमिल होते नहीं देख सकते। उनका तो एक ही संकल्प है—

धन्य जनमु जगती तल तासू।
पितहि प्रमोद चरित सुनि जासू॥
चारि पदारथ करतल ताकें।
प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें॥

(मानस २/४५-१)

वैसे तो रामादि सभी भाइयों का पारस्परिक स्नेह अनुकरणीय है तथापि मानस में राम-लक्ष्मण तथा राम-भरत के स्नेह-सम्बन्ध अधिक मुखर हैं। तुलसी ने इनका स्नेह बहुत ही ऊँची भाव-भूमि में चित्रित किया है। राम-लक्ष्मण का स्नेह चिर-विदित है। राम वन-गमन के समय लक्ष्मण की स्थिति—"मीन दीन जनु जल ते काढ़े" की थी। राम ने उन्हें उपदेश दिया कि वे माता-पिता की सेवा करें तथा उनके (राम के) विरह से संतप्त प्रजा को सुख-शान्ति प्रदान करें। इस पर लक्ष्मण का सीधा-सा उत्तर है

कि राम के अतिरिक्त उनका किसी से कोई सम्बन्ध है ही नहीं। तुलसी के शब्दों में—

गुरु पितु मातु न जानउ काहू।
कहहुँ सुभाउ नाथ पति आहू॥
जहँ लगि जगत स्नेह सगाई।
प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरे सबइ एक तुम स्वामी।
दीनबन्धु उर अन्तरजामी॥

(मानस २/७२-२-३)

इसी प्रकार राम तथा भरत का पारस्परिक स्नेह भी अनुपम है। पिता की मृत्यु के पश्चात् ननिहाल से लौटने पर भरत को जब सभी समाचार विदित हो जाते हैं तो वे अपनी माता को बुरा-भला कहते हैं। भरत कौशल्या और सुमित्रा की वैधव्यजनित और राम-वियोग से उत्पन्न व्याकुलता को शान्त करने का प्रयास करते हैं। वे निवेदन करते हैं कि उन्हें अपनी माता के षड्यन्त्र का स्वप्न में भी आभास न था। शोक-संतप्त भरत इस सन्दर्भ में अपने निर्दोष होने की घोषणा करते हुए कहते हैं कि यदि वे अपनी माता से सहमत रहे हों, तो माता, पिता और पुत्र को मारने से, गोशाला तथा ब्राह्मणों के नगर को जलाने से, स्त्री तथा बालक की हत्या करने से तथा अन्यान्य दूसरे दुष्कर्म करने से जो पाप होते हैं, वे सभी उनको लगें। अनेक प्रकार से विलाप करते हुए भरत यह स्पष्ट कर देते हैं कि वे कितना भी कुछ कहें भगवान राम तथा सीता को छोड़कर दूसरा कोई भी उन्हें निर्दोष नहीं मानेगा। उनके शब्द हैं—

परिहरि राम सीय जग माहीं,
कोउ न कहिहि मोर मत नाहीं।

(मानस, २/१८२-२)

जहाँ निश्छल प्रेम होता है वहीं ऐसा दृढ़ विश्वास सम्भव है। भरत के प्रति श्रीराम का अगाध स्नेह चित्रकूट में राम-भरत के पारस्परिक मिलन के अवसर पर गोस्वामी जी ने बड़ी कुशलता से व्यंजित किया है—"भरत प्रनाम करत रघुनाथा" यह सुनते ही राम की स्थिति विचित्र हो जाती है। उनके हृदय के स्नेह में ऐसा ज्वार उठता है कि वे स्वयं को सन्तुलित नहीं रख पाते। गोस्वामी जी के शब्दों में—

उठे रामु सुनि प्रेम अधीरा,
कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा।

(मानस, २/२३९-४)

भरतजी से मिलने के लिए श्रीराम ऐसे उतावले होकर दौड़ते हैं कि उन्हें अपने उत्तरीय वस्त्र, तरकस, धनुष तथा बाणों की भी सुध-बुध नहीं रहती। वे सब कहीं-कहीं बिखर जाते हैं, राम को इसका आभास तक नहीं होता। उनके हृदय में केवल एक बात है कि अपने प्रिय भाई भरत को जितना भी शीघ्र हो सके, भुजाओं में भर लिया जाये। चित्रकूट में इन दोनों के संवाद तथा आचरण ऐसे पदार्थ बन पड़े हैं कि उनसे मानव-समाज को युग-युग तक प्रेरणा मिलती रहेगी।

दुर्भाग्य से आज के भाई ऐसे हो गये हैं कि एक-दो एकड़ भूमि अथवा दस-पाँच हजार की सम्पत्ति के ऊपर एक-दूसरे के प्राण लेने को तुल जाते हैं। इतना ही नहीं, समाचार-पत्रों में नित्य-प्रति एक-दो ऐसे समाचार प्रकाशित होते हैं जिनमें बहुत थोड़े लालच पर एक भाई दूसरे भाई के अथवा अपने माता-पिता के भी प्राण ले लेता है। ऐसे समाज के लिए राम-भरत का पारस्परिक स्नेह कितना ऊँचा आदर्श प्रस्तुत करता है। भरत कहते हैं—'हे राम! बड़े भाई होने के नाते राज्य करने का अधिकार आपका है।

अतः आप कृपा करके राज-तिलक ग्रहण कीजिये।" उत्तर में श्रीराम कहते हैं कि पिता ने भरत को राज्य करने की आज्ञा दी है। अतः वही प्रजा के कल्याण के लिए शासन के भार को सँभाले। अयोध्या के वैभवशाली साम्राज्य को दोनों भाई पादकंदुक की भाँति एक दूसरे की ओर लुढ़का रहे हैं। भ्रातृ-प्रेम का ऐसा उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है।

इस महाकाव्य के नायक राम तथा नायिका सीताजी का दाम्पत्य जीवन भी आदर्श है। राम वन-गमन की सूचना पाते ही सीताजी के हृदय में चिन्ता होती है—

चलन चहत बन जीवन नाथू,
केहि सुकृती सन होइहि साथू।

(मानस, २/५७-२)

सीताजी की सुकुमारता को देखते हुए श्रीराम उन्हें कदापि वन ले जाने के लिए सहमत नहीं हैं। वे सीताजी को सास-ससुर की सेवा का आदेश देकर अयोध्या में रहने के लिए विवश करते हैं। इस पर सीताजी अपनी स्थिति स्पष्ट करती हुई कहती हैं—

जिय बिनु देह नदी बिनु बारी,
तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी।

(मानस, २/६४-४)

अपनी सुकुमारता पर भी सीता-राम के प्रति बहुत करारा व्यंग्य करती है—

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू,
तुम्हहि उचित तप मो कहुँ भोगू।

(मानस, २/६७-४)

सीता का निश्छल स्नेह राम को उन्हें साथ ले जाने के लिए विवश कर देता है। वन-जीवन का उनका संघर्ष तथा पति-परिक स्नेह भी अपने में निराला है।

जहाँ तक राजा-प्रजा के सम्बन्ध की बात है। दशरथ मनमाने ढंग से राम के राज-तिलक की घोषणा नहीं करते। वे विधिवत् अपनी परिषद् में इस विषय का प्रस्ताव लाते हैं—

जौं पाँचहि मत लागै नीका,
करहु हरषि हियँ रामहि टीका।

(मानस, २/४-२)

सभी के द्वारा एकमत से स्वीकृति मिल जाने पर वे श्रीराम के राजतिलक की घोषणा करते हैं। इससे स्पष्ट है कि राजा दशरथ निरंकुश शासक नहीं हैं, वे अपनी मंत्रि-परिषद के परामर्श पर ही कोई महत्वपूर्ण निर्णय लेते हैं। कैकेयी की हठ पर राजा राम के स्थान पर भरत का राज-तिलक करने का निर्णय स्वयं ही ले लेते हैं, इससे उन दिनों की राजतन्त्र व्यवस्था का भी संकेत मिलता है। दूसरी ओर प्रजा इस निर्णय की भर्त्सना करने में स्वतन्त्र है। पुनश्च राम वन-गमन के समय प्रजाजन का उनके साथ चलने का आग्रह राजा-प्रजा के स्वस्थ सम्बन्धों का प्रतीक है।

राजा की प्रजा वत्सलता तथा निस्पृहता का भरत जैसा उदाहरण मिलना कठिन है। भगवान् राम की चरण-पादुकाओं को सिंहासन पर स्थापित करके वे उनके राज्य की समुचित व्यवस्था करते हैं। अवध जैसा सम्पन्न राज्य, जिसकी सम्पत्ति को देखकर कुबेर भी ईर्ष्या करता था। उसके सम्राट होने पर भी भरत ऐसी अनासक्ति से अपना समय बिताते थे, जैसे कि चम्पा के फूलों के बाग में निर्विकार भाव से भ्रमर निवास करता है। जहाँ आज हम 'अंग गलितं पलितं मुण्डं' की स्थिति में भी विषय-वासनाओं के पीछे पड़े रहते हैं, वहाँ सम्राट भरत का कितना ऊँचा आदर्श है—

अवध राजु सुर राजु सिहाई,
दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई।

तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा।
चंचरीक जिमि चंपक बागा।

(मानस, २/३२४/३-४)

तुलसी के राम साक्षात् परब्रह्म हैं। वे कथानक में एक भी प्रसंग ऐसा नहीं आने देते, जिससे उनके या उनके इष्टदेव के प्रति किसी की उँगली उठे। जब सुमन्तजी गंगा-तट से अयोध्या के प्रति लौटते हैं तो श्रीराम विनयपूर्वक अपना सन्देश देते हैं—

पितु पद गहि कहि कोटि नति,
बिनय करब कर जोरि।
चिंता कवनिहु बात कै,
तात करिअ जनि मोरि॥

(मानस, २-९५)

सीताजी भी कहती हैं—

सासु ससुर सन मोरि हुँति,
बिनय करबि परि पायँ।
मोर सोचु जनि करिअ कछु,
मैं बन सुखी सुभायँ॥

(मानस, २-९८)

तभी अपने स्वभाव के अनुसार लक्ष्मणजी कुछ कटु वचन कह जाते हैं—

पुनि कछु लखन कही कटु बानी,
प्रभु बरजे बड़ अनुचित जानी।
सकुचि राम निज सपथ देवाई,
लखन सँदेसु कहिअ जनि जाई।

(मानस, २-९५, २-३)

लक्ष्मण द्वारा कहे गये वे कठोर शब्द क्या थे? यह पाठकों के लिए आज भी एक रहस्य बना हुआ है। एक से एक अनुपम वाक्य प्रसून-रत्नों से किसी की श्रीवृद्धि करने वाले तुलसी लक्ष्मण द्वारा कहे गये कुछ कठोर शब्दों को अपने काव्य में नहीं रख पाये। क्या इसमें उनकी कवित्व शक्ति का अभाव झलकता है? वस्तु-स्थिति तो यह है कि तुलसी का इस प्रकार का मौन ही उनके काव्यको उत्तमोत्तम बनाता है। वे तो उतना ही लिखेंगे जितना एक भक्त को शोभा देता है और उनकी मर्यादा की सीमा में आता है।

इसी प्रकार का एक प्रसंग मारीच वध के समय उपस्थित होता है। मरते समय वह राक्षस जोर से चिल्लाकर लक्ष्मण को अपनी सहायता के लिए बुलाता है। पतिपरायणा सीताजी इस छल से विचलित होकर लक्ष्मण को श्रीराम के पास भेजना चाहती हैं। लक्ष्मणजी स्पष्ट घोषणा करते हैं—

भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई,
सपनेहुँ संकट परइ कि सोई।

(मानस, ३/२७-२)

किन्तु स्वभाव से ही भीरु नारीको इससे सन्तुष्टि नहीं होती और फिर—

मरम बचन जब सीता बोला,
हरि प्रेरित लछिमन मन डोला।

(मानस, ३/२७-३

सीताजी ने लक्ष्मण को जो मर्म वचन कहे वे क्या थे? तुलसी जो मानव हृदय के अन्तरतम रहस्यों को प्रकट करने में सफल हैं, जिन्होंने राम-वनवास, भरत-विलाप, सीता-हरण तथा लक्ष्मण-मूर्छा जैसे मार्मिक प्रसंगों का हृदयहारी चित्रण किया है, वे सीताजी द्वारा कहे गये गिने-चुने कटु वचनों का उल्लेख क्यों नहीं कर सके, यही तो उनकी महानता है। तुलसी कुछ उल्टे-सीधे वाक्य लिखकर अपने महाकाव्य की नायिका जगज्जननी सीता के चरित्र को कलुषित नहीं कर सकते। उन्हें एक भक्त की सीमा तथा मर्यादा का प्रत्येक क्षण ध्यान रहता है।

दशरथ चक्रवर्ती सम्राट हैं। उन्हें अपने चारों पुत्रों से प्रगाढ़ स्नेह है। वे चाहते तो गुरु वसिष्ठजी को अपने पुत्रों पढ़ाने के लिए

अपने महलमें भी बुला सकते हैं, किन्तु तुलसी जैसे मर्यादावादी कवि को यह कैसे अभीष्ट हो सकता है। भगवान् का अवतार मर्यादा की रक्षा के लिए होता है, न कि उसका हनन करने के लिए। इसीलिये तो—

गुर गृहँ गए पढ़न रघुराई,
अलप काल विद्या सब आई।

(मानस, १/२०३-२)

श्रीराम के राज्याभिषेक के निमित्त उन्हें उचित उपदेश देने के लिए वशिष्ठजी स्वयं ही राम के महल में चले आते हैं। गुरु के आगमन की सूचना पाते ही श्रीराम गृहद्वार से बाहर आकर उनकी चरण-वन्दना करते हैं। राम को इस बात का कष्ट है कि उनके गुरुदेवजी ने सेवक भेजकर राम को ही क्यों नहीं बुला लिया। अपने भवन में गुरुदेवजी को पाकर राम का उद्गार तुलसी ने इन शब्दों में प्रकट किया है—

सेवक सदन स्वामी आगमनू,
मंगल मूल अमंगल दमनू।
तदपि उचित जनु बोलि सप्रीती,
पठइअ काज नाथ असि नीती।

(मानस, २/८-३)

तुलसी के हनुमान भूखे-प्यासे होते हुए भी अपनी स्वामिनी सीताजी की आज्ञा पाकर ही अशोक वाटिका में फल भक्षण करने की चेष्टा करते हैं—

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा,
लागि देखि सुन्दर फल रूखा।

(मानस, ५/१६-४)

वन-मार्ग में पैदल चलते हुए भी लक्ष्मण जी तथा सीताजी का शिष्टाचार अनुकरणीय है। भगवान् राम के पद-चिह्नों को बचा-बचाकर सीताजी उस कठोर भूमि में अपने चरण-कमल रख रही हैं। दोनों के ही भक्त लक्ष्मणजी उन दोनों के ही चरण-चिह्नों को बचाकर उन्हें अपने दाहिनी ओर रखते हुए मार्ग में चल रहे हैं—

प्रभु पद रेख बीच बिच सीता।
धरति चरन मग चलति सभीता॥
सीय राम पद अंक बराएँ।
लखन चलहिं मगु दाहिन लाएँ॥

(मानस, २/१२२-३)

रामचरित मानस में इस प्रकार की मर्यादा, नम्रता तथा शिष्टता के असंख्य उदाहरण सुलभ हैं, जिनका इस छोटे से लेख में चित्रण करना सम्भव नहीं है। ऐसे सत्साहित्य के प्रणेता गोस्वामी तुलसी, उनका ग्रन्थ-रत्न "रामचरित मानस" और उनके इष्टदेव भगवान् राम सदा इस भूले-भटके पथिकों का मार्ग-दर्शन करने के लिए युग-युग तक अजर-अमर रहें।

—❀—

उत्थित पद्मासन

पद्मासन लगाकर दोनों हाथ दोनों ओर जमीन पर रखकर उनके ऊपर सारे शरीर को, पेट अन्दर खींचे हुए और छाती को बाहर निकाले हुए जरतक पृथिवी से ऊपर उठावे। जितना पृथिवी से ऊपर उठा रहेगा उतना ही अधिक लाभ होगा।

बाहुबल की वृद्धि, छाती का विकास, पेट के रोगों का नाश और क्षुधा की वृद्धि इस आसन का फल होता है।

ज्ञान के बीज का गर्भ

● प्रेषक—श्री सुधीरकुमार माहेश्वरी

विना दीक्षा फलं नस्यादयस्मिन् शिवशासने ।
सा च न स्याद्विनाचार्यमित्याचार्य पुरः सरम् ॥
देवि दीक्षा विहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गति ।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत् ॥

(कुलार्णव तन्त्र, चतुर्थ उल्लास १-२)

महाकाल योग-शास्त्र में श्री महेश्वर का कथन है कि शिव कथित कल्याण-मार्ग में दीक्षित नहीं होने से साधक का ज्ञान, ध्यान, योग, जप, तप, भक्ति, कर्म एवं धर्म आदि कुछ नहीं मिलता है। इसलिए यदि तुम अपना मंगल चाहो, तो तुमको दीक्षित होना ही चाहिए। दीक्षा भी बिना आचार्य गुरु के नहीं हो सकती। अतः दीक्षा के लिए तुम्हें सद्गुरु के पास जाना होगा। दीक्षा विहीन मनुष्य को न तो किसी धर्म कर्म की सिद्धि होती है और न सद्गति (मोक्ष) ही होती है। इसलिए सर्वतो भाव प्रयत्न करके गुरु से दीक्षित होना ही आवश्यक है।

श्री शम्भु का प्रसाद सबके लिए एक-सा है। शक्तिपात से शिष्य तत्वार्थ का बोध कर लेता है, उसकी बुद्धि में ज्ञान के बीज का अंकुर उत्पन्न हो जाता है। यदि शिष्य वास्तविक ही शास्त्र कथनानुसार उपयुक्त अधिकारी है तो दीक्षा का फल जैसा कहा है वैसा ही तत्काल मिलता है। अन्यथा कथित अनुभव होने पर भी शिष्य को साधना करनी पड़ती है। शिष्यों के शरीर, मन, प्राण, आत्म ज्ञान के उपयुक्त बन जायें इसलिए उनकी शक्ति उनके संस्कारानुसार स्वतः ही वेदान्त योग अथवा भक्ति मार्गानुसार साधन कराती है। अतएव शक्तिपात मात्र से ही सब शिष्य तत्काल मुक्त नहीं होते। उनके मन, प्राण और शरीर में एक विशेष प्रकार का परिवर्तन अवश्य हो जाता है।

जैसे कि गर्भ स्थापन मात्र से ही सन्तान तो प्रसव नहीं होती, परन्तु स्त्री गर्भ रहने का लक्षण जान जाती है। ठीक उसी प्रकार से गुरु के शक्तिपात से हर शिष्य एक अनुभव करता है कि ज्ञान के बीज का गर्भ स्थापन हो गया है। समय पर ज्ञान उत्पन्न होगा ही, जैसे गर्भवती नारी गर्भ वृद्धि का लक्षण अनुभव करती है वैसे ही हर एक शिष्य कुण्डलिनी शक्ति की क्रिया से ज्ञान-वृद्धि का अनुभव करता है। जैसे जननी गर्भस्थ सन्तान की सुरक्षार्थ आवश्यक नियम पालती रहती है, वैसे ही शिष्य को भी ज्ञान रक्षार्थ शास्त्र कथित नियम पालन करने चाहिए।

जैसे गर्भधारिणी उदरस्थ संतान की रक्षा न करके, दुष्ट बुद्धि से नष्ट करना चाहे तो गर्भ नष्ट हो सकता है, वैसे ही गुरु द्वारा किया हुआ शक्तिपात रूपी गर्भ भी शिष्य के दुष्ट कर्म के आचरण से अथवा शास्त्रकथित अथवा आवश्यक धर्म पालन न करने से नष्ट हो सकता है। जब तक ज्ञान उत्पन्न न हो तब तक धर्माधर्म रूप संस्कार नष्ट नहीं होते इसलिए ज्ञान उत्पन्न होने तक शास्त्र-कथित विधि वाक्य का पालन करना आवश्यक है। वैसे तो महाविद्या का बीज नष्ट नहीं होता, पुनः जन्मान्तर में बोध के बीज अंकुर प्रस्फुटित होने का संयोग उपस्थित हो सकता है तथापि जब तक ज्ञान परिपक्व न हो तब तक स्वेच्छा से नहीं वर्तना चाहिए।

श्री महेश्वर की कृपा से गुरुदेव द्वारा या तुम्हारे प्रबल पुण्य-प्रताप से तुम्हारी आत्म-सत्ता जाग उठती है उसी को योगी लोग कुण्डलिनी शक्ति, भक्ति-पथ में वाले आह्लादिनी शक्ति, वेदान्त वाले चितिशक्ति, तन्त्र-मन्त्र वाले महामाया आद्याशक्ति, कुल-कुण्डलिनी आदि नाना प्रकार के नामों से जानते हैं। इसी अनुग्रह की सभी कामना करते हैं, क्योंकि इसी की सहायता से तुम परमात्मा से मिल सकोगे। इसलिए ज्ञान, योग और भक्ति—ये तीनों मार्ग मेरे ही अपनी प्राप्ति के कहे हैं। तीनों से ही तुम दीक्षा द्वारा मुझसे ही मिलोगे।

यथा दीक्षित मात्रेण,
जायन्ते प्रत्ययाः प्रिये।
सा दीक्षा मोक्षदा ज्ञेया,
शेषास्तु जन सेविकाः॥
उपासनाशतेनापि
या, चिन्ता नैव नश्यति।
तां दीक्षामाश्रयेद्यत्नात्,
श्रीगुरोर्मन्त्र सिद्धये॥
रसेन्द्रेण यथा विद्धमयः,
सुवर्णतां व्रजेत।
दीक्षान्वितस्तथा ह्यात्मा,
शिवत्वं लभते प्रिये॥
(कुलार्णव तन्त्र ४/३-४-५)

अतएव जिस दीक्षा में दीक्षित होने से तात्कालिक अनुभव, आत्म-प्रतीति और विश्वास हो वही दीक्षा मोक्ष देने वाली जानना, जिसमें उक्त अनुभव न हों वह दीक्षा केवल नाम-मात्र की ही है, उससे फल कुछ नहीं होता। सैकड़ों प्रकार की उपासना करने पर भी जिस चिन्ता का नाश नहीं होता, वह यत्नपूर्वक नष्ट हो जाती है। जैसे रासायनिक क्रिया के संयोग से पारद निकृष्ट धातु का भी भेदन करके सुवर्ण कर देता है, वैसे ही दीक्षा के भी संस्कार से तुम शिवरूप हो जाओगे।

दीक्षितस्य न कार्यं,
स्यात्तपोभिर्नियमव्रतैः।
न तीर्थक्षेत्र गमनैर्न,
च शारीरयन्त्रणैः॥
अदीक्षिता ये कुर्वन्ति,
जपपूजादिकाः क्रियाः।
न फलन्ति प्रिये तेषां,
शिलायामुप्तबीजवत्॥
(कुलार्णव तन्त्र ४/६-७)

विधिपूर्वक दीक्षा द्वारा संस्कृत होने पर दीक्षित को नित्य नैमित्तिक कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती। जप, तप, नियम,

यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेव विज्ञाते भवति

● श्री राजेन्द्रप्रसाद पाठक

अनेकानेक योनियों में भ्रमित होने वाले ईश्वरांशीय इस जीवात्मा के विभेद में— आत्म-तत्त्व, देह-तत्त्व एवं पर-तत्त्व निहित है। विभेद आवृत्तमय एवं आभास-विहित तत्त्वयुक्त मनुष्य शरीर के अन्तर्जगत में भगवान के अवर्णनीय अमृत वचन "सुदर्शित मनुष्यत्वः मां तु वेद न कश्चन" जैसा अपरम्पार अमरता उद्भासित होकर जगत-कल्याणमय 'स महात्मा सुदुर्लभः' की दीपन धारा परमात्म सम्मानित है। विशिष्ट सन्मार्ग के लिए प्राप्त कर्माणु मुक्तिकरण में समस्त व्यष्टि एवं समष्टि रचित है। श्रीमद् भगवद् गीता के पन्द्रहवें अध्याय में पुरुषोत्तम योग की शिक्षा देते हुए स्वयं कहते हैं—

न तद्भासयते सूर्यो,
न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते,
तद्धाम परमं मम ॥
—गीता १५/६

अर्थात् मेरे उस स्वयं प्रकाश धाम को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकता है। जिसे प्राप्त हुआ जीव इस प्राकृत जगत में फिर नहीं आता, वही मेरा परमधाम है।

इस पवित्र वचन में अखिलात्मा योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण के परमधाम का मार्मिक वर्णन है, जो कृष्णलोक अथवा गोलोक वृन्दावन कहलाता है और वैकुण्ठ जगत् में स्थित है। उस वैकुण्ठ जगत् में सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि अथवा बिजली की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वहाँ के सब लोक स्वयं प्रकाशित हैं। हमारे इस ब्रह्माण्ड में एकमात्र सूर्यलोक ही स्वयं प्रकाश है, परन्तु पर-व्योम के सब लोक में स्वयं प्रकाश है। वैकुण्ठ लोकों की इस दीप्ति को 'ब्रह्म ज्योति' कहते हैं। वास्तव में इस ज्योति का स्रोत कृष्ण लोक गोलोक वृन्दावन है। इस तेजोमयी ज्योति के एक अंश पर महत्तत्त्व का आवरण है। यही प्राकृत जगत है, परन्तु ज्योतिर्मय पर व्योम का अधिकांश तो वैकुण्ठ नामक दिव्य लोकों से ही परिपूर्ण है, गोलोक वृन्दावन इन सबमें परमोच्च है।

जब तक जीव इस अन्धकारमय प्राकृत जगत में है, तब तक वह उपाधियों में बंधा रहता है, परन्तु प्राकृत जगत रूपी उल्टे वृक्ष को काटकर वैकुण्ठ जगत में पहुँचते ही वह मुक्त हो जाता है, फिर उसके यहाँ आने का

व्रत, तीर्थ-यात्रा आदि सभी शारीरिक कष्ट करने की भी दीक्षित को आवश्यकता नहीं, क्योंकि दीक्षा से ही उक्त सभी जप, तप आदि के फल की प्राप्ति हो जाती है। जो लोग अदीक्षित हैं वे जो कुछ जप, पूजादि क्रियायें करते हैं, वे दीक्षित न होने के कारण पत्थर पर बोये हुए बीज की तरह उनको उसका कुछ भी फल नहीं मिलता है। ●

भय नहीं रहता है। उपाधि युक्त जीवन में जीव अपने को इस प्राकृत जगत का ईश्वर समझता है, परन्तु मुक्त हो जाने पर वैकुण्ठ-जगत में प्रवेश कर श्रीभगवान के पार्षद के रूप में सच्चिदानन्दमय जीवन का आस्वादन करता है।

अतिप्रियार्जुन के प्रति आत्माबोध-बोधक भगवान श्रीकृष्ण के अमृत वचन आत्मानुभूति परक हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमो,
मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः
स मामेति पाण्डव॥
—गीता ११/५५

अर्थात् "हे अर्जुन ! जो मनुष्य पूर्वकृत सकाम कर्म और ज्ञान से मुक्त होकर मेरी शुद्ध भक्ति में तत्पर है और मेरे परायण है तथा प्राणीमात्र का मित्र है, वह निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होता है।" ज्ञातव्य है कि भगवान निर्गुण भी हैं, सगुण भी, निराकार भी हैं, साकार भी। वे निष्क्रिय, निर्विशेष, निर्लिप्त और निराधार होते हुए भी सृष्टि स्थिति संहार करने वाले, सविशेष, सर्वव्यापी और सर्वाधार हैं। सांख्योक्त परस्पर विलक्षण अनादि पुरुष और प्रकृति-चेतन और अचेतन दोनों शक्तियाँ, जिनसे सारा जगत उत्पन्न होता है, भगवान की ही परा और अपरा प्रकृतियाँ हैं। इन दो प्रकृतियों के द्वारा वस्तुतः भगवान ही अपने को प्रकट कर रहे हैं। वे सबमें रहकर भी सबसे परे हैं। वे ही सबको रचने वाले स्रष्टा हैं और वे ही यथार्थ सम्मति देने वाले अनुमन्ता हैं। वे ही सबका भरण-पोषण करने वाले भर्ता हैं, वे ही सबमें व्याप्त परमात्मा हैं और वे ही समस्त ऐश्वर्य-माधुर्य से परिपूर्ण भगवान हैं। वे एक होने पर भी अनेक रूपोंमें विभक्त हुए से जान पड़ते हैं। अनेक रूपों में व्यक्त होने पर भी एक ही हैं। व्यक्त, अव्यक्त और अव्यक्त से भी परे सनातन अव्यक्त वे ही हैं। क्षर, अक्षर और अक्षर से भी उत्तम पुरुषोत्तम वे ही हैं। वे अपनी ही महिमा से महिमान्वित हैं। अपने ही गौरव से गौरवान्वित हैं और अपने ही प्रकाश से प्रकाशित हैं। भगवान स्वयं कहते हैं कि—

यो मां पश्यति सर्वत्र,
सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स,
च मे न प्रणश्यति॥
—गीता ६/३०

भगवान के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान या दर्शन बिना उनकी कृपा के नहीं हो सकता। वे जिन पर अनुग्रह करके अपना ज्ञान कराते हैं, वे ही उन्हें जान सकते हैं। उनकी कृपा भक्तों पर ही व्यक्त होती है। भक्ति विश्वातीत और गुणातीत तथा विश्वमय और सर्वगुणमय परमात्मा का अवतरण कराकर उन्हें नीचे (पृथ्वी पर) उतारकर भक्त के साथ आत्मीयता के अत्यन्त मधुर बन्धन में बाँध देती है। वह उन्हें अपने परमपिता स्नेहमयी जननी, प्राणोपम सुहृद, प्यारे सखा, प्राणाधार पति, जीवनाधार पुत्र आदि प्राणों के प्राण और जीवनों के जीवन परम आत्मीय रूप में प्राप्त करता है। भगवान के दिव्य स्नेह, अलौकिक प्रेम, अनुपमेय अनुग्रह, परम सौहार्द, अनिर्वचनीय दिव्य नित्य सौन्दर्य और नित्य नवीन माधुर्य का साक्षात्कार और उपभोग भक्ति के द्वारा किया जा सकता है।

स्वामी जी अपने काव्य पाठ में अभिव्यक्त करते हैं।

व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन बिगत बिनोद,
सो अज प्रेम भगति बस, कौशल्या के गोद।
(श्रीरामचरित मानस १/१९८)

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा,
मातु पिता गुरु नावहिं माथा।
आयसु माँगि करहिं पुर काजा,
देखि चरित हरषहिं मन राजा।
(श्रीरामचरित मानस १/२०४-४)

यथा—

हनूमान सम नहिं बड़भागी,
नहिं कोउ राम चरन अनुरागी।
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई,
बार बार प्रभु निज मुख गाई।
(श्रीरामचरित मानस उ० का० ४९/४-५)

'चरितमद्‌गुरु' इस प्रेम त्रिवेणी के अन्तर्गत आस्था भरी वृत्त में श्रद्धा एवं विश्वास की त्रिवेणी ईश्वर के अमृत-प्रसून— 'अचिन्त्याव्यक्तरूपाय निर्गुणाय गुणात्मने, समस्त जगदाधार मूर्तये ब्रह्मणे नमः" से प्राप्त कैवल्य में परम-शान्ति तब तक अवस्थित नहीं होती, जब तक कि तादात्म्य एकीकार नहीं हो जाता। भगवान् का वास्तविक स्वरूप कैसा है, उसे ईश्वर ही जानते हैं या वे जानते हैं जिन पर उनकी कृपा प्रणीत हो गई होती है, क्योंकि संसार तो प्राकृतिक, ससीम और सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा आकलन करने योग्य है। परन्तु परमात्मा का स्वरूप तो अलौकिक, असीम, अप्राकृतिक, अनन्त अपार और अकल है। जिसे वेद भी नेति-नेति कहकर परम शान्ति को प्राप्त करता है, के सम्बन्ध में सूत्रात्मक आधिपत्य प्राप्त करना उन्हीं (सद्‌गुरु) की अमृत-वाणी से ही सम्भव है। ईश्वर स्वयं कहते हैं—

मत्सेवया प्रतीतं च,
सालोक्यादि चतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णा,
कुतोऽन्यत् कालविद्रुतम्॥

अर्थात् मेरे भक्त मेरी सेवा से ही पूर्ण मनोरथ होते हैं, वे मेरी सेवा को छोड़कर सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्तियों को भी नहीं चाहते। फिर काल से नाश होने वाली अन्यान्य वस्तुओं की तो बात ही क्या। जिसने अपना चित्त मुझको दिया है, वह मुझको छोड़कर ब्रह्मा के आधिपत्य, देवराज इन्द्र के राज्य, सार्वभौम साम्राज्य, पाताल के आधिपत्य, योग की समस्त सिद्धियाँ, यहाँ तक कि कैवल्य मोक्ष को भी नहीं चाहता।

निष्कर्षतः वस्तु-स्वरूप भगवान् और भक्त के पारस्परिक भाव अचिन्त्य सा प्रतीत होता है, जिसका तत्काल सम्बन्ध वाणी और मन के द्वारा संयोग कर लेना असम्भव तो नहीं, किन्तु कठिन अवश्य प्रतीत होता है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस अपने तत्व-मार्मिक पुस्तक में व्यक्त करते हैं कि स्वामीजी से उत्सुकता-वश एक शिष्य ने हठात् ईश्वर के सम्बन्ध में प्रश्न किया कि ईश्वर (भगवान) को कैसे प्राप्त किया एवं देखा जा सकता है। स्वामी जी शिष्य के तार्किक प्रश्न का सीधा जवाब देने के लिए उसे पास के एक सरोवर में ले गये और उसे जल में हाथ स्पर्श कर डुबकियाँ देकर पूछा—क्या तुमने भगवान का देखा? प्रत्युत्तर में शिष्य ने निवेदन किया कि स्वामीजी! मेरे हृदय में काफी व्यग्रता हुई और ऐसा लगा, जैसे जान के दबाव से प्राण न निकल जायें। स्वामीजी हँसते हुए बोले, ईश्वर प्राप्ति-दर्शन के लिए इससे भी ज्यादा व्याकुलता की जरूरत होती है।

निदान, उस नित्य, निर्विकार सच्चिदानन्द भगवान के विशिष्ट भावों को जानना अति कठिन है। संसार उस नियन्ता के आंशिक प्रकाश से प्रकाशित है। वह सबमें स्थित एवं नियन्ता, सर्वाधार, सबको सत्ता और शक्ति देकर स्थिति से परिस्थिति में विलीन करने वाले, सबके अद्वितीय कारण, सबसे परे और सर्वमय हैं। उनकी वाणी गीतामृत धार में पीयूषतः रञ्जित है। वे मुखरित करते हैं—

मया ततमिदं सर्वं,
जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि
न, चाहं तेष्ववस्थितः ॥
न च मत्स्थानि भूतानि,
पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो,
ममात्मा भूतभावनः ॥

—गीता ९/४-५

अर्थात्—मुझ अव्यक्त-मूर्ति के द्वारा यह सारा संसार व्याप्त हो रहा है, सब भूत मुझ में हैं, परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ, वे सब भूत भी मुझमें नहीं हैं। मेरा यह ऐश्वर्य योग देखो कि सम्पूर्ण भूतों का उत्पादक और भरण-पोषण करने वाला होकर भी मैं स्वरूपतः उन भूतों में स्थित नहीं हूँ।

निर्दिष्टतः भगवान के व्यतिरेकतः सत्-असत् स्वरूपों को पहचानने में कितना मार्मिक तर्क व्यवस्थित है। ये तर्क विसंगत एवं असंगत भावों को दूर कर तात्त्विक अभिव्यञ्जीकरण से 'परमार्थ और व्यवहार के भेद को बताते हुए उक्त श्लोक में अपने ऐश्वर्य योगके संदर्भ में—मैं सबमें हूँ' और 'किसी में भी नहीं हूँ' दोनों ही बात कह बैठते हैं। इस मार्मिक रहस्य के व्यवहार एवं परमार्थरूपी तथ्य को समझना या अनुकरण तथा अनुसरण कर पाना असाध्यसाध्य सा लगता है, क्योंकि—

गिरा अर्थ जल बीचि सम,
कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दौ सीताराम पद,
जिनहि परमप्रिय खिन्न ॥

—की तरह 'व्यवहार एवं परमार्थ' दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं, दोनों एक-दूसरे के अविच्छिन्न अङ्ग हैं। हम इसमें, इस रूप से सहजता ला सकते हैं कि व्यवहार का आधार मस्तिष्क है तो परमार्थ का आधार हृदय। व्यवहार में जो आत्मीयता प्राप्त नहीं होती, वह परमार्थ (कर्मानुगत के अनुकरण एवं अनुसरण) में प्राप्त होती है। जहाँ व्यवहार क्लिष्टाक्लिष्टता का स्वरूप धारा और कटु है, वहाँ परमार्थ रूपी वृक्ष का तात्त्विक फल मधुर एवं कोमल है। एक का सीधा सम्बन्ध भक्त से है तो दूसरे का भगवान से। एक की शिष्टता में दूसरा पूर्णरूपेण श्लिष्ट (चिपका हुआ) है। एक से यदि निर्भयता आती है तो दूसरे से निरभिमानता। अतः एक के अभाव में दूसरे का पूर्णरूपेण स्थायित्व मिलना अति कठिन है। इस प्रकार ईश्वर की इस अनन्त अमृतमयी अमरता के पावन अंग-तरंग की गम्भीरता सद्योग की उक्तियाँ श्रीमद्भागवत भी स्वीकार करता है कि—"जहाँसु देखा वै ब्रह्माण्डे तहाँ आछी यही भाण्डे" अर्थात् What ever I see in Brahamand is all Present in the body itself. इस ही भाव को रवीन्द्रनाथ टैगोर भी व्यक्त करते हैं—

कुर्वाईं स्वर्गं कुर्वाईं नरकं
केवलित्व बहुदूर ।
मानुषेभ्यो स्वर्गेन तस्य,
मानुषेति सुरासुर ॥

इसी अमरत्वमयी शब्दमयता एवं रसमयता को कवि देववाणी में अपने अगम्य उद्घोष द्वारा—

"यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेव विज्ञातं भवति"
से साक्षात्कार करती हुई व्यक्त करती है—

वह ही दृश्य वही द्रष्टा,
वह ही सब नाट्य रचाता है ।
जब जैसी इच्छा होती है,
वह स्वयं वही हो जाता है ॥
(मुक्ति सुधा)

सूक्ष्म-सूक्ष्म के प्रति क्रम से,
सब नित्य सूक्ष्म रह जाता है ।
तब वही सर्व अप्रतिद्वन्द्वी,
निज तत्त्व विष्णु कहलाता है ॥
कब कैसे, क्यों किसलिए कहाँ,
वह होता एक अनेकों है ।
कह सकता नहीं कभी कोई,
जानता वही अपनेको है ॥
भौतिक तन से उस ईश्वर को,
जितना अनुभव कर सकते हैं ।
सूक्ष्म-सूक्ष्म के क्रम से हम,
उतना ही उसे समझते हैं ॥
वह जो चाहे कर सकता है,
वह जो चाहे हो सकता है ।
अपनी संसृति के पहुँच तुल्य,
प्राणी अनुमोदन करता है ॥

भारतवर्ष महान

● श्री राघवेन्द्र तिवारी

ओ पुण्यतम युग की पावन भाव भूमि,
तेरे चरणों पर विनत हमारे सिन्धु युग ।
तेरी सुकीर्ति के चरण-चिह्न हम चूमेंगे,
इस महापर्व के अनुशासित इस महासत्र ।
ओ जगज्जयी करुणा के पावन महासेतु,
जग-शान्ति-निलय, प्रति रक्षण के ओ अमर हेतु ।
ओ गीता के उन्नायक, रामायण वाचक,
ओ सरस्वती के पुत्र ऋचाओं के पाठक ।

तेरे स्नायुमण्डल में सारा विश्वतन्त्र,
गूँजा करता है देव, जागृति का सुमन्त्र ।
तुम में जन-नायक जैसी है क्षमता,
तू दया प्रेम के साथ सजीवन है ममता ।
तेरा हर द्वार खुला पावन गरिमा लेकर,
तूने जग को जग कहा कई कृतियाँ लेकर ।
तेरे पग की हर धूल आज अक्षत चन्दन,
ओ विश्व पिता भारत तेरा शत अभिनन्दन ।

कर्म, विकर्म, अकर्म का स्वरूप

● श्री वैद्य रामधन शर्मा शास्त्री

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कर्म, विकर्म, अकर्म का स्वरूप बड़े अच्छे ढंग से समझाया है। उन्होंने अपने मुख से जो वर्णन किया, उसका कोई महापुरुष विवेचन नहीं कर सकता। न ही उस रूप से समझा सकता है, क्योंकि भगवान् तो सबके मालिक अर्थात् सबके स्वामी हैं। उनके कहे हुए का न तो ब्रह्मा आदि देवता भी वर्णन करने में असमर्थ हैं। हम जैसे तुच्छ बुद्धि वाले मनुष्य तो थोड़ा भी कहने में असमर्थ हैं, फिर भी गुरुदेव जी की कृपा से और प्रभुजी की अनुकम्पा से जैसाकि गीता में व्यासजी ने लिखा है, उसके अनुसार कुछ वर्णन कर रहा हूँ। भगवान ने गीता में कर्म की गति बड़ी गहन बतलाई है। जैसे—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं,
बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं,
गहना कर्मणो गतिः॥
(गीता ४/१७)

इससे भगवान बड़ा जोर देकर इसे समझाने के लिए कहते हैं और समझाते हैं। यहाँ कर्म की तीन संज्ञा की गई है—कर्म, विकर्म और अकर्म। यद्यपि इस बात का निर्णय करना बड़ा कठिन है कि भगवान का अभिप्राय वास्तव में क्या है। परन्तु विचार करने पर जो कुछ समझ में आता है वही लिखा है। साधारणतया विद्वज्जन इसका स्वरूप समझाते हैं कि इस लोक में या परलोक में जिसका फल सुखदायी हो, उस उत्तम क्रिया का नाम कर्म है। दूसरे जिसका फल इस लोक या परलोक में दुःखदायी हो उसको विकर्म कहते हैं। तीसरे, जो कर्म या कर्म त्याग किसी फल की उत्पत्ति का कारण नहीं होता उसका नाम अकर्म है। इन तीनों के रहस्य को समझना इसलिए भी बड़ा कठिन कठिन हो रहा है कि हम लोगों ने मन, वाणी, शरीर से होने वाली सम्पूर्ण क्रियाओं को ही कर्म नाम दे रखा है, परन्तु यथार्थ में यह बात नहीं है। यदि यही बात हो तो फिर ऐसा कौनसा रहस्य था, जो सर्व साधारण की समझ में न आता। भगवान भी क्यों कहते कि कर्म और अकर्म क्या है, इस विषय में बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं।

किं कर्म किमकर्मेति,
कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
(गीता ४/१६)

और क्यों इसे गहन ही बतलाते। इससे यह सिद्ध होता है कि मन, वाणी और शरीर की स्थूल क्रिया या अक्रिया का नाम ही कर्म, विकर्म, अकर्म नहीं है। कर्ता के भावों के अनुसार कोई भी क्रिया कर्म, विकर्म और अकर्म रूप से परिणत हो सकती है। साधारणतः तीनों का भेद इस प्रकार समझना चाहिए।

कर्म—

मन, वाणी, शरीर से होने वाली विधि-संगत उत्तम क्रिया को ही कर्म मानते हैं।

पर ऐसी विधि-रूप क्रिया भी कर्ता के भावों की विभिन्नता के कारण कर्म, विकर्म, अकर्म बन जाती है। इसमें भाव ही प्रधान है।

१. फल की इच्छा से शुद्ध भावनापूर्वक जो विधि-संगत उत्तम कर्म किया जाता है, उसका नाम कर्म है।

२. फल की इच्छापूर्वक बुरी नीयत से जो यज्ञ, जप, तप, दान, सेवा आदि रूप विधेय कर्म भी किया जाता है वह कर्म तमोगुण युक्त होने से विकर्म यानी पाप-कर्म हो जाता है। यथा—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया,
क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा,
तत्तामसमुदाहृतम् ॥
(गीता १७/१९)

जो तप मूढतापूर्वक हठ से मन-वाणी शरीर की पीड़ा सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने की नीयत से किया जाता है वह तामस कहा जाता है।

३. फलासक्ति रहित हो भगवदर्थ या भगवदर्पण बुद्धि से अपना कर्त्तव्य समझकर कर्म किया जाता है, मुक्ति के अतिरिक्त अन्य फलोत्पादक न होने के कारण उस कर्म का नाम अकर्म है।

अथवा—परमात्मा में भिन्न-भिन्न भाव से तन्मय होकर कर्तापन के अभिमान से रहित पुरुष द्वारा जो कर्म किया जाता है वह भी मुक्ति के अतिरिक्त अन्य फल नहीं देने वाला होने से अकर्म है। गीता ३-२८ श्लोक में इसका बहुत ही स्पष्ट वर्णन किया गया है।

विकर्म—

साधारणतः मन, वाणी और शरीर से होने वाले हिंसा, असत्य, चोरी आदि निषिद्ध कर्म मात्र ही विकर्म समझे जाते हैं। परन्तु वे भी कर्ता के भावनानुसार कर्म, विकर्म या अकर्म के रूप में बदल जाते हैं। इसमें भी भाव ही प्रधान है—

१. इहलौकिक या पारलौकिक फलेच्छा-पूर्वक शुद्ध नीयत से किये जाने वाले हिंसादि कर्म (जो देखने में विकर्म से लगते हैं) कर्म समझे जाते हैं।

२. बुरी नीयत से किये जाने वाले निषिद्ध कर्म सभी विकर्म हैं।

३. आसक्ति और अहंकार से रहित होकर शुद्ध नीयत से कर्त्तव्य प्राप्त होने पर किये जाने वाले हिंसादि कर्म (जो देखने में विकर्म यानी निषिद्ध कर्म से प्रतीत होते हैं) भी फलोत्पादक न होने के कारण अकर्म समझे जाते हैं। (गीता २-३८)

अकर्म—

मन, वाणी, शरीर की क्रिया के अभाव का नाम ही अकर्म नहीं है। क्रिया न करने वाले पुरुषों के भावों के अनुसार उनका क्रिया त्याग रूप अकर्म भी कर्म, विकर्म अकर्म बन जाता है, इसमें भी भाव ही प्रधान है।

१. मन, वाणी, शरीर की सब क्रियाओं को त्याग कर एकान्त में बैठा हुआ पुरुष क्रिया रहित साधक पुरुष को जो अपने को सम्पूर्ण क्रियाओं का त्यागी समझता है, उसके द्वारा शरीर से कोई काम होता हुआ न दीखने पर भी त्याग का अभिमान रहने के कारण उससे वह त्याग रूप कर्म होता है पर उसका वह त्याग रूप अकर्म भी कर्म बन जाता है।

२. कर्तव्य प्राप्त होने पर भय या स्वार्थ के कारण कर्तव्य कर्म से मुख मोड़ना, विहित कर्मों का न करना और बुरी नीयत से लोगों को ठगने के लिए कर्मों का त्याग कर देना आदि में भी स्वरूप से कर्म नहीं होते। परन्तु यह अकर्म दुःख का फल उत्पन्न करता है। इससे इसको विकर्म या पाप कर्म समझना चाहिए।

३. परमात्मा के साथ अभिन्न भावको प्राप्त हुए जिस पुरुष का कर्तृत्वाभिमान सर्वथा नाश हो गया है। ऐसी स्थिति प्राप्त पुरुष के अन्दर समाधि काल में जो क्रिया का आत्यान्तिक अभाव है, वह अकर्म यथार्थ अकर्म है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि कर्म, विकर्म और अकर्म का निर्णय केवल क्रियाशीलता और निष्क्रियता से ही नहीं होता। भावों के अनुसार ही कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म विकर्म आदि हो जाते हैं। इस रहस्य का तत्व से जानने वाला ही गीता के मतानुसार मनुष्यों में बुद्धिमान योगी और सम्पूर्ण कर्मों का करने वाला है।

स बुद्धिमान्मनुष्येषु स,
युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।
(गीता ४-१८)

अर्थात्—मनुष्यों में वही बुद्धिमान पुरुष है जो अकर्म किये हुए को कर्म में प्रवृत्त कर देवे। अतएव वही पुरुष संसार रूपी बन्धन से छूट जाता है।

यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।
(गीता ४-६)

जो मनुष्य अशुभ कर्मों को जानकर अच्छे की तरफ मन के भावों को लगा दे तो वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

कर्मों के तीन भेद

कर्मों के तीन भेद होते हैं। एक तो वे जिनका फल भोगा जा रहा है, इन्हें प्रारब्ध कहते हैं। प्रारब्ध का अर्थ ही है वे कर्म जिन्होंने अपना फल देना प्रारम्भ कर दिया है। लेकिन बहुत से कर्म बचे-बचाये रह जाते हैं। सब बचे-बचाये कर्मों का फल एक साथ भोग लिया जाय ऐसा न भन नहीं होता। इसलिए जो बचे हुए कर्म संचित कोष में जमा रहते हैं। यह दूसरा भेद हुआ कर्मों से।

तीसरा भेद क्रियमाण कर्मों का रहता है जो संचित कोष में से फल देने को उन्मुक्त हो जाते हैं। यही कर्म क्रियमाण कर्म कहलाते हैं।

—श्री गुरुदेवजी की वाणी

योग और नारी

● श्री डा० विमलशंकर उपाध्याय

भारतीय दर्शन में जिस प्रकार योगी, ऋषि-महर्षियों का वर्णन मिलता है, उसी प्रकार महिलायें भी उससे अछूत नहीं हैं। यौगिक क्रिया एवं संयम के बल पर इन्द्रियों को केन्द्रीभूत करके अपनी पति व परिवार की रक्षा कर सकती हैं। आज की महिलायें यौगिक क्रिया मात्र पुरुषों से छोटी है, ऐसा समझकर उपेक्षित रह जाती हैं। उनको यह जानकारी होनी चाहिए कि यह क्रियायें सबके लिए उपयोगी एवं आवश्यक हैं।

महिलाओं के लिए यौगिक क्रियायें उतना ही आवश्यक है जितना कि पुरुषों के लिए। या यों कहा जा सकता है कि पुरुषों से कहीं अधिक आवश्यकता स्त्रियों को होना चाहिए। महिलाओं में आध्यात्मिक दृष्टिकोण एवं सत्-रज की प्रधानता रहने पर उनसे उत्पन्न होने वाले बच्चे सत्-गुण ही पैदा होते हैं, जिसका प्रभाव बाल्यकाल से ही पड़ता है। प्रथमावस्था या बचपन से ही यौगिक क्रिया करने की जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है, उनके लिए यह मार्ग सरल एवं सुलभ हो जाता है। जिसको वंश-परम्परागत या आनुवंशिक कहते हैं। "जिस भावना प्रधान होकर बीज बोयेंगे वैसी ही उत्पत्ति होती है। ऐसा कहा गया है कि—

विहाय कामान्यः सर्वा-
न्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः,
स शान्तिमधिगच्छति ॥
(गीता २/७१)

अर्थात् जो पुरुष, महिलायें सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममतारहित और अहंकार रहित, स्पृहारहित हुआ बर्तता है, वह शांति को प्राप्त होता है।

मानसिक भावनाओं से परिपूर्ण मन की प्रधानता रहने पर उत्पन्न होने वाले बच्चे सात्विक विचार-धारा के यौगिक मार्ग पर चलने वाले होते हैं। रज की प्रधानता के कारण राजसी एवं तम की प्रधानता के कारण तामसी प्रवृत्ति के बच्चे उत्पन्न होते हैं। यह भी देखा जाता है कि कभी-कभी राजसी एवं तामसी प्रवृत्ति के होते हुए भी सात्विक प्रवृत्ति का समावेश हो जाता है। गीता में भगवान ने कहा है कि—

मम योनिर्महद्‌ब्रह्म,
तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां,
ततो भवति भारत ॥
(गीता १४/३)

हे अर्जुन! मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया, सम्पूर्ण भूतों की योनि है। अर्थात् गर्भाधान का स्थान है और मैं उस योनि में चेतनरूप बीज स्थापन करता हूँ। उस जड़-चेतन के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय,
मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं,
बीजप्रदः पिता ।
(गीता १४/४)

नाना प्रकार की सब योनियों में जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भ को धारण करने वाली माता है और बीज को मैं स्थापन करने वाला पिता हूँ।

सत्त्वं रजस्तम इति,
गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो,
देहे देहिनमव्ययम्॥
(गीता १४/५)

अर्थात् सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ऐसे यह प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुण इस अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वा-
त्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति,
ज्ञानसङ्गेन चानघ॥
(गीता १४/६)

अर्थात् उन तीनों गुणों में प्रकाश करने वाला निर्विकार सत्वगुण तो निर्मल होने के कारण सुख की आसक्ति से और ज्ञान की आसक्ति से अर्थात् ज्ञान के अभिमान से बाँधता है।

मानव प्रकृति प्रदत्त प्राणीमात्र होने के साथ-साथ गुण सम्पन्न होने वाले बच्चों में किसी एक की प्रधानता होने पर दो का लोप अवश्य हो जाता है। इसके लिए भी भगवान् ने कहा है कि—

रजस्तमश्चाभिभूय,
सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव,
तमः सत्त्वं रजस्तथा॥
(गीता १४/१०)

अर्थात् रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्वगुण होता है, बढ़ता है तथा रजोगुण और सत्वगुणको दबाकर तमोगुण बढ़ता है वैसे ही तमोगुण और सत्वगुण को दबाकर रजोगुण बढ़ता है।

श्री सद्गुरुदेवजी का वचन है कि सत-संगत से प्रभु के स्मरणमात्र से मानव में राजसी-तामसी प्रवृत्ति का लोप हो सात्विक प्रवृत्ति की प्रधानता हो जाती है। जिसकी वजह से कालांतर में समयांतर्गत तामसी और राजसी प्रवृत्ति वाले पुरुष और महिलायें भी सत्संग में पड़कर सात्विक प्रवृत्ति में परिणत हो, सद्भावनापूर्वक जीवनयापन करते हैं।

इसी प्रकार महिलायें भी जिस भावना प्रधान प्रवृत्ति की होंगी, वैसा ही उनके संसर्ग से संतान की उत्पत्ति होगी।

यौगिक साधना के बल पर स्वयं के साथ सम्पूर्ण परिवार का सुधार, विचार, आध्यात्मिक भावनाओंसे परिपूर्ण सांस्कारिक बच्चों को जन्म देकर अपने प्राचीन संस्कार को बदल सकती है।

इसलिए विशेष आवश्यकता है कि बदलते हुए परिवेश का परित्याग कर सद्गुणों से सम्पन्न हो यौगिक क्रिया, आसन, मुद्रा, प्राणायाम की क्रिया को सद्गुरु के चरणों में संपर्क स्थापित कर सीखें और अपनायें।

यौगिक क्रिया के द्वारा शरीर की संरचना में परिवर्तन होता है। इन क्रिया के द्वारा मानसिक, शारीरिक, आध्यात्मिक, विचार एवं भावनायें प्रबल हो चरमोत्कर्ष पर पहुँचती हैं। उनके कार्य आसान एवं सरलतापूर्वक हो सकते हैं।

गीता में भगवान ने कहा है कि—

जो मेरी शरणमें होकर जरा और मरण से छूटने के लिए यत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्म को तथा संपूर्ण अध्यात्म को और संपूर्ण कर्म को जानते हैं।

इस प्रकार से सभी लोग ज्ञान प्राप्त कर सद्भावनापूर्वक अपने कार्य-कलाप को करने में प्रवीण हो जाते हैं।

*

सांसारिक दुःखों की निवृत्ति के उपाय

● डा० राजकुमारी मिश्रा

आज के भौतिकवादी युग में विश्व-मानव अत्यन्त दुःखी है। धनी, निर्धन, वृद्ध, युवक, बालक सभी दुःखी हैं। इन्सान ज्यों-ज्यों अपने दुःखों को दूर करने में सचेष्ट होता है, त्यों-त्यों निन्यानबे के फेर में पड़कर और भी दुःखी होता है।

वस्तुतः सुख व दुःख की भावना व्यक्ति-निष्ठ होती है। यदि कोई घटना किसी व्यक्ति को दुःख देती है तो वही घटना किसी अन्य व्यक्ति को आनन्दित करती है। जैसे जब किसी की जेब काटकर कोई जेबकतरा उसके धन को अपना बना लेता है तो वह व्यक्ति तो धन-हानि के कारण दुःखी होता है, परन्तु जेबकतरा धन पाकर प्रसन्न होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सुख-दुःख किसी घटना या व्यक्ति की भावना से सम्बन्धित होते हैं। अपने आप में कोई भी घटना सुखदायी या दुःखदायी नहीं होती।

प्रश्न उठता है तो फिर सुख व दुःख क्या है? मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि जो मनुष्य के मन को प्रिय लगता है वह उसके लिए सुख है तथा जो मन के प्रतिकूल होता है वह उसके लिए दुःख है। जैसे ही मानव इस संसार में जन्म लेता है, वह तभी से नाना प्रकार के सुख-दुःख भोगता है। यही कारण है कि प्रत्येक जीव दुःखी रहता है। यद्यपि निर्धनता दुःख का बहुत बड़ा कारण होती है, फिर भी धनवानों के दुःख, मानसिक क्लेश, धन की सुरक्षा की चिन्ता आदि को देखकर भला कौन धन को सुख का कारण मानेगा। इसी प्रकार निरोगी काया को भी सुख का प्रथम साधन कहा गया है, परन्तु सामान्यरूप से अधिक लम्बी आयु वाले व्यक्तियों व चिरजीवी महात्माओं को अपने ही सामने अपने पुत्र व पौत्रों के मरने का दुःख झेलना पड़ता है।

इस प्रकार इस संसार में कोई भी सुखी नहीं है। इसीलिए बौद्ध-दर्शन में कहा गया है कि—सर्वं दुःखम्। मन के प्रतिकूल वस्तु तो दुःखद है ही, मानव मन के अनुकूल वस्तु भी दुःख रूप बन जाती है, जब लाख कोशिश करने पर भी वह नहीं मिलती। जैसे मन-भावन स्वादिष्ट व्यञ्जन अति सुखप्रद लगते हैं, परन्तु जब वे खाने को नहीं मिलते तो दुःखदायी बन जाते हैं। क्योंकि इस स्थिति से तो यही अच्छा होता है कि वे व्यञ्जन पहले भी न मिले होते तो कम से कम उनके न मिलने पर दुःख तो न होता।

इस तरह जो हमें सुख प्रतीत होता है वह भी तात्त्विक दृष्टि से दुःखरूप ही है। परन्तु इस लेख में हम सुख-दुःख का विवेचन लौकिक दृष्टि से ही करेंगे।

हम प्रतिदिन देखते हैं कि सुख व दुःख का क्रम नदी के प्रवाह की भाँति चलता है।

शास्त्र कहते हैं कि मनुष्य पूर्व-जन्म के पाप-पुण्य के अनुसार ही दुःख-सुख पाता है। अपने पिछले किये कर्मों पर किसी का वश नहीं है, अतः उनका फल तो भोगना ही पड़ेगा।

प्रश्न उठता है कि सच्चिदानन्दघन परब्रह्म का अंशस्वरूप जीव क्या पिछले कर्मों के चक्र-व्यूह में फंसकर अभिमन्यु की तरह नष्ट होने के लिए जन्मा है। यदि नहीं, तो 'दुःखों से कैसे बचा जा सकता है ?'

यह सत्य है कि पूर्वकृत कर्मों का फल अवश्य मिलता है, परन्तु मनुष्य अपनी बुद्धि से अपने वर्तमान दुःख का कारण पहचानकर उसे कम अवश्य कर सकता है। कभी-कभी तो उससे बच भी सकता है।

समस्त जागतिक दुःखों का मूल कारण है राग व द्वेष। यदि सांसारिक वस्तुओं के प्रति अपनी ममता, स्नेह, आसक्ति व तृष्णा त्याग दी जाये तो सांसारिक पदार्थ व घटनायें सुख व दुःख नहीं देतीं। ऐसी ही स्थिति वाले कर्मयोगी के लिए श्रीमद्भगवद्गीता में जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।' मनुष्य सुख में सुखी व दुःख में दुःखी न होवे, सुख-दुःख दोनों का त्याग करने वाला परम सुखी होता है। इस प्रकार पूर्व-जन्म के कर्मों के फलरूप में मिलने वाले दुःख से व्यक्ति बच सकता है।

परन्तु जितनी आसानी से यह शिक्षा दी जा सकती है, उतनी आसानी से इस मार्ग में सफलता नहीं मिलती। अतः एक ओर तो अनासक्त भाव से संसार में जीवन बिताने का अभ्यास करना चाहिए तथा दूसरी ओर दुःख नाश का उपाय भी करना चाहिए।

दुःख-नाश के लौकिक उपाय

सर्व प्रथम तो दुःख आने पर अपना धैर्य नहीं खोना चाहिए। आत्मिक रूप से दुर्बल व्यक्ति दुःख आने पर घबरा उठता है, उसे उस समय कुछ नहीं सूझता। कहा गया है—

> बिधाता जाकूँ दारुण दुःख देई।
> ताकी मति पहले हर लेही॥

मनुष्य बुद्धि प्रधान प्राणी है। उसे अपनी बुद्धि द्वारा विचार कर अपने दुःख का कारण जानकर उससे छूटने का उपाय करना चाहिए। मन को विषादग्रस्त नहीं होने देना चाहिए।

प्रायः मानसिक व शारीरिक दुःखों के चार कारण होते हैं। रोग, अप्रिय घटना की प्राप्ति, अधिक परिश्रम तथा प्रिय वस्तु का वियोग। ज्ञानी पुरुष को शारीरिक दुःख की निवृत्ति के लिए औषधि का सेवन करना चाहिए तथा विवेकपूर्वक विचार करके मानसिक दुःखों को नष्ट करना चाहिए। कई व्यक्ति अपनी पत्नी से अपनी बातें गुप्त रखते हैं। इस तरह वे अकेले सुख-दुःख झेलते हैं, परन्तु यह गलत है। महाभारत में कहा गया है—समस्त दुःखों की शान्ति के लिए पत्नी के समान दूसरी औषधि नहीं है। पति-पत्नी मृत्यु-पर्यन्त एक ही परिवार के अंग बनकर रहते हैं। उनके सुख-दुःख भी एक-दूसरे को सुखी या दुःखी बनाते हैं। माता, पिता, भाई, बहिन अथवा मित्र का अलग घर होने के कारण अलग स्वार्थ होता है। अतः स्वाभाविक है कि पति-पत्नी एक-दूसरे के सुख-दुःख को सहजता से अपनाते हैं। अतः अपने दुःख को सदा ही अपने जीवन-साथी से बाँटकर जी हल्का करना चाहिए। बीते हुए दुःखों का बार-बार चिन्तन भी नये दुःख के समान दुःख देता है। अतः बीते हुए दुःखी दिनों को भूल जाना चाहिए।

अपने लिए दुःख देने वाले तत्त्वों को त्याग देना चाहिए, चाहे वे अपने शरीर के अंग ही क्यों न हों। किसी भी व्यक्ति से न तो सुख की आशा करो, न ही विश्वास करो, क्योंकि आशा पूरी न होने पर विकट मानसिक क्लेश होता है। विश्वासघात भी इन्सानके व्यक्तित्व को झकझोर डालता है।

शर-शय्या पर पड़े भीष्म पितामह उपदेश देते हुए सुखी जीवन का फारमूला देते हैं—"सबमें समता का भाव, व्यर्थ परिश्रम का अभाव, सत्य भाषण, संसार से वैराग्य और कर्मासक्ति का अभाव, ये पाँचों जिस व्यक्ति में होते हैं वह सुखी होता है।"

यद्यपि इन उपायों से दुःख से बचने का सफल प्रयास किया जा सकता है, फिर भी होनी होकर रहती है। केवल भगवत्साधना में लगा इन्सान ही संसार में सुखी है—

नानक दुखिया सब संसार।
सुखिया वही जो नाम अधारा॥

मद्भगवद् गीता में जगत्‌गुरु श्रीकृष्ण कहते हैं—

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्

अर्थात् दुःख संयोग से वियोग कराने वाले ज्ञानी बतला रहा उपाय योग है। हमारे ऋषि-मुनियों द्वारा निर्दिष्ट योग-मार्ग ही मानव मात्र के समस्त दुःखों का सदा-सदा के लिए खातमा कर सकता है। अतः हम सभी परम शक्तिमान गुरुदेव से योग-मार्ग में प्रवृत्त होने की प्रेरणा व कृपा प्राप्त करें।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः

—गीता

दूसरे का धर्म सरल मालूम हो तो भी उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए। बहुत बार सरलता आभासमात्र ही होती है। घर-गृहस्थी में बाल-बच्चों की ठीक संभाल नहीं की जाती, इसलिए ऊबकर यदि कोई गृहस्थ संन्यास ले ले, तो वह ढोंग होगा और भारी भी पड़ेगा। मौका पाते ही उसकी वासनाएं जोर पकड़ेंगी। संसार का बोझ उठाया नहीं जाता, इसलिए जंगल में जाने वाला पहले वहाँ छोटी-सी कुटिया बनायेगा। फिर उसकी रक्षा के लिए बाड़ लगायेगा। ऐसा करते-करते वहाँ भी उस पर सवाया संसार खड़ा करने की नौबत आ जायगी। यदि सचमुच मन में वैराग्यवृत्ति हो, तो फिर संन्यास की कौन कठिन बात है? संन्यास को आसान बताने वाला स्मृति-वचन तो है ही। परन्तु मुख्य बात वृत्ति की है। जिसकी जो सच्ची वृत्ति होगी, उसीके अनुसार उसका धर्म होगा। श्रेष्ठ-कनिष्ठ, सरल-कठिन का यह प्रश्न नहीं है। विकास सच्चा होना चाहिए। परिणति सच्ची होनी चाहिए।

—विनोबा

जिज्ञासु का कर्त्तव्य

● श्री विष्णुप्रसाद व्यास

लंका का राजा रावण वेद-शास्त्रों का ज्ञाता और अपने समय का महान नीतिज्ञ था। जब वह युद्ध भूमि में मरणासन्न अवस्था में पड़ा हुआ अन्तिम श्वांस गिन रहा था। भगवान श्री रामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी को अपने निकट बुलाकर कहा—रावण नीति शास्त्र का महान ज्ञाता था, अतएव उसके पास जाओ और नीति विषयक ज्ञान प्राप्त करो।

लक्ष्मणजी रावण के निकट गये और उसके सिर की ओर खड़े होकर बोले—रावण! मैं श्री रामचन्द्रजी का भाई लक्ष्मण तुमसे नीति-शास्त्रका ज्ञान प्राप्त करने आया हूँ। मुझे कुछ इस विषय में बताओ।

रावण ने आँखें खोलीं, लक्ष्मण को देखा और पुनः आँखें बन्द करलीं। लक्ष्मण ने दो-तीन बार अपनी बात दुहराई परन्तु रावण ने उत्तर तो क्या देना था। उनकी ओर देखा भी नहीं। लक्ष्मणजी निराश होकर वापस लौट आये।

भगवान श्री रामचन्द्रजी ने पूछा—रावण ने कुछ उपदेश किया?

लक्ष्मणजी बोले—वह बड़ा अहंकारी है। यद्यपि मरने के निकट है, परन्तु अभी भी अहंकार को उसने नहीं त्यागा, दो-तीन बार कहने पर भी उसने मेरी बात का कोई जवाब नहीं दिया।

भगवान श्री रामचन्द्रजी बोले—तुम उसके पास कैसे गये और किस प्रकार तुमने अपनी जिज्ञासा उसके समक्ष रखी, सो सब हमें बताओ।

तब लक्ष्मणजी ने अपने जाने का सम्पूर्ण वृतान्त उनके चरणों में निवेदन किया। सुनकर भगवान श्री रामचन्द्रजी, जो स्वयं नीति-निधान थे, बोले—लक्ष्मण! गलती तुम्हारी है। तुम जिज्ञासु बनकर रावण के पास ज्ञान प्राप्त करने गये थे परन्तु यह पूरी तरह भूल गये कि जिज्ञासु का क्या कर्त्तव्य है? नीति अनुसार तुम्हारा धर्म यह था कि उसके चरणों की ओर खड़े होकर नम्रता पूर्वक पूछते। जाओ अब ऐसा करके देखो।

लक्ष्मणजी पुनः वहाँ गये, जहाँ रावण मरणासन्न अवस्था में पड़ा था और उसके पाँव की ओर खड़े होकर तथा हाथ जोड़कर नम्रता पूर्वक बोले—मैं श्री रामचन्द्रजी का लघुभ्राता आपको प्रणाम करता हूँ। मुझे नीति-शास्त्र का कुछ ज्ञान दीजिये।

रावण ने आँखें खोलीं, संकेत से लक्ष्मण को अपने निकट बैठने [को कहा और उसे नीति शास्त्र के विषय में उपदेश दिया।

अभिप्राय यह है कि जब कोई मनुष्य किसी के पास ज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा से जाता है, तो उसका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि उसका पूरी तरह सम्मान करे। उसके समक्ष हाथ जोड़कर खड़ा हो और अत्यन्त नम्रता पूर्वक अपनी जिज्ञासा उसके सम्मुख प्रस्तुत करे। इसी पर एक अन्य कथा है—

प्राचीन समय की बात है। एक बार कुछ ऋषि-पुत्र एकत्र होकर आत्मा के विषय में विचार करने लगे, परन्तु कई दिनों तक विचारों का आदान-प्रदान करने के उपरान्त भी वे किसी निश्चय पर न पहुँच पाये। अन्ततः आपस में परामर्श कर वे महर्षि उद्दालक के पास गये और उनके सामने अपनी समस्या प्रस्तुत कर कहने लगे—कई दिनों तक विचार करने के उपरान्त भी आत्मा के विषय में हम कुछ निश्चित नहीं कर पाये, इसीलिये आपके पास आये हैं। आप तत्व-वेत्ता महर्षि हैं, इसलिये हमें आत्म-ज्ञान का उपदेश कीजिये।

महर्षि उद्दालक ने सोचा, ये सच्चे जिज्ञासु तो अवश्य हैं, परन्तु इस बात से पूर्णतः अनभिज्ञ हैं कि जिज्ञासु को किसी महापुरुष के पास किस प्रकार जाना चाहिए। अतः कोई ऐसा उपाय करना चाहिए कि इनकी जिज्ञासा पूर्ण होने के साथ-साथ इन्हें जिज्ञासु के धर्म का भी कुछ ज्ञान हो जाये। उन्होंने इन्हें अश्वपति के पास भेजने का विचारकर कहा—आत्मा का ठीक-ठीक बोध तो राजर्षि अश्वपति को ही है। इस समय वे महान् तत्ववेत्ता हैं, इसलिये आत्मा का शिक्षा तो वे ही करा सकते हैं। चलो! उनके पास चलें।

महर्षि उद्दालक उन सबको लेकर महाराज अश्वपति के पास गये। उन्हें देखकर महाराज अश्वपति अत्यन्त हर्षित हुए, उन्होंने सबका हार्दिक आदर-सत्कार किया। भारतीय संस्कृति में अतिथि सत्कार को बड़ा महत्व प्रदान किया गया है। विशेषकर जब ऋषि-मुनि तथा साधु-सन्त पधारें तो इसकी महत्ता और भी अधिक बढ़ जाती है।

महाराज अश्वपति ने यथा-विधि सबके चरण धोये और उन्हें सुन्दर एवं स्वच्छ आसनों पर विराजमान कराया। फिर चन्दन माला तथा पुष्प आदि से उनका विधिवत् पूजन किया। तत्पश्चात् उनके सम्मुख नाना प्रकार के स्वादिष्ट एवं सात्विक भोज्य-पदार्थ स्वर्ण के थालों में परोसकर प्रस्तुत किये तथा दक्षिणा के रूप में स्वर्ण मुद्रायें भी अर्पित कीं। किन्तु ऋषि-पुत्रों ने भोजन को भी हाथ न लगाया और धन लेना भी अस्वीकार कर दिया, क्योंकि वे धन-पदार्थों के लिए तो महाराज अश्वपति के पास नहीं आये थे, वे सभी तो आत्म-ज्ञान की प्राप्ति की जिज्ञासा लेकर ही वहाँ पहुँचे थे।

महाराज अश्वपति को उनके व्यवहार से तनिक भी आश्चर्य न हुआ। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—मैं जानता हूँ कि शास्त्रों में राजा के अन्न को अपवित्र बतलाया गया है, क्योंकि कर आदि द्वारा प्राप्त धन के अतिरिक्त राज-कोष में उस धन का भी संग्रह होता है, जो चोरों-डाकुओं तथा अनाचारियों से अर्थ-दण्ड के रूप में प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार पापियों का धन राज-कोष में आ जाने से वह अपवित्र हो जाता है। किन्तु आप लोग विश्वास करें कि मेरे राज्य में न तो कोई चोर है न शराबी और न ही अनाचारी। इसके अतिरिक्त मेरे राज्यमें किसीसे अन्याय पूर्वक कर भी नहीं लिया जाता। शास्त्रों में राजा का जो भाग निश्चित है, प्रजाजन स्वयं ही अपनी आय का वह निश्चित भाग राज-कोष में जमा करा जाते हैं। इस प्रकार मेरा धन तथा अन्न निर्दोष है, इसलिए आप सब भोजन ग्रहण कर मुझे कृतार्थ करें।

ऋषि-पुत्रों ने उत्तर दिया—राजन्! हम इस बात से भलीभाँति अभिज्ञ हैं कि आपका धन-अन्न दोनों ही पवित्र हैं और आप हम लोगों का हृदय से सत्कार कर रहे हैं, किन्तु

हे राजन् ! मनुष्य का वास्तविक सत्कार यही होता है कि वह जिस प्रयोजन को लेकर आया है, उसका वह प्रयोजन पूरा हो जाये । हम आपके पास धन की इच्छा लेकर नहीं आये हैं, प्रत्युत आत्म-विषयक ज्ञान प्राप्त करने आये हैं। आत्म-ज्ञान का उपदेश देकर हमारी अभिलाषा पूर्ण करें ।

महाराज अश्वपति उनकी बात सुनकर हंस पड़े और बोले—आप सब थके हुए हैं, इसलिए आज तो आप सब भोजन करके विश्राम करें, कल आपकी इस बात पर विचार करूंगा ।

ऋषि-पुत्रों ने भोजन किया, तत्पश्चात् अतिथिशाला में एकत्र होकर आपसमें वार्ता करने लगे कि महाराज हमारी बात पर हंसे क्यों ? उन्होंने हमें आज ही आत्म-ज्ञान का उपदेश क्यों न किया ? उन्होंने कल भी उत्तर देने का कोई निश्चित आश्वासन नहीं दिया । उन्होंने यही कहा कि कल आपकी बात पर विचार करूंगा । भला ऐसा क्यों ? महाराज अश्वपति के उक्त व्यवहार पर उन्हें बड़ा खेद हो रहा था ।

महर्षि उद्दालकजी बड़ी देर से उनकी बातें सुन रहे थे । अन्ततः बोल उठे—अविधिपूर्वक प्रश्न करके आप सब उत्तर की आशा कैसे रख सकते हैं ?

सभी विस्मित होकर बोले—अविधिपूर्वक कैसे ?

महर्षि उद्दालक बोले—आप सब जिज्ञासु हैं और ज्ञान की प्राप्ति हेतु ही यहाँ आये हैं, फिर क्या आप लोगों का उच्च आसनों पर बैठकर महाराज अश्वपति से पूजा करवाना नीति युक्त है ? ज्ञान की प्राप्ति इस प्रकार कदापि नहीं होती । नियम तो यह है कि जिज्ञासु नीचा होकर बैठे और नम्रतापूर्वक प्रश्न करे । जल के समान ज्ञान की गति भी नीचे की ओर होती है, इसलिए जो झुकेगा, जो विनम्र होगा ज्ञान उसीकी ओर जायेगा । आपने इस नियम का पालन नहीं किया, अविधिपूर्वक उनके समक्ष ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा रखी, इसीलिए महाराज आपलोगों की बात सुनकर हंसे और इसीलिए उन्होंने आपको निश्चित आश्वासन नहीं दिया ।

सभी ने अपनी भूल स्वीकार की । दूसरे दिन वे बड़े विनम्र भाव से महाराज अश्वपति के सम्मुख गये और आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हेतु उनसे प्रार्थना की । तब महाराज अश्वपति ने उन्हें आत्म-ज्ञान का उपदेश दिया, जिससे कृत-कृत्य हो गये ।

उपरोक्त कथा से शिक्षा ग्रहण कर हमें भी यह बात पूरी तरह हृदयंगम कर लेनी चाहिए कि हम जब भी महापुरुषों के पास किसी जिज्ञासा की पूर्ति हेतु अथवा आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हेतु जायें, तो दीनता और नम्रता धारण करके जायें । तभी हम सच्चे अधिकारी बन सकते हैं और ज्ञान की प्राप्ति कर सकते हैं ।

— ॐ —

सत्यस्य वचनं श्रेयः, सत्यादपि हितं वदेत् ।
यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं, मतं मम ॥

सत्य बोलना अच्छा है, परन्तु सत्य से भी ऐसा बोलना अच्छा है, जिससे सब प्राणियों का (वास्तविक) हित हो; क्योंकि जिससे सब प्राणियों का अत्यन्त (वास्तविक) हित होता हो, वह हमारे मत में सत्य है । —महाभारत-शान्तिपर्व

योग के सहायक

एवं

बाधक तत्व

● श्री अभिराज वशिष्ठ

योग के निम्नलिखित ६ सहायक तत्व बतायें गये हैं।

उत्साहात् साहसात् धैर्यात्,
तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ।
जनसंग परित्यागात्,
षड्भिर्योगः प्रसिद्धयति ॥

(१) उत्साह, (२) साहस, (३) धैर्य, (४) तत्व-ज्ञान, (५) दृढ़ निश्चय, (६) जनसंग का परित्याग।

योग के चरम उत्कर्ष समाधिस्थ अवस्था तक निर्विघ्न रूप से पहुँचने के लिए उपरोक्त ६ सहायक तत्व माने गये हैं :

उत्साह :

सुबुद्धि से निश्चित कार्य के प्रति साधक के अन्दर विद्यमान उमंग या ललककी भावना ही उत्साह गुण कहलाती है। अभ्यासी में इस गुण का होना आवश्यक है, क्योंकि इस गुण के अभावमें वह पूर्ण मनोयोग या आस्था के साथ साधना कर ही नहीं सकता। फलस्वरूप योग की ऊँचाई तक उसका पहुँचना असम्भव हो जाता है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि इस गुण की साधना साधक को अपने कार्य के प्रति रुचि बनी रहती है और वह पूर्ण कुशलता एवं सामर्थ्य से साधन में जुटा रहता है एवं सफलता को प्राप्त होता है।

साहस :

कठिन या विषम परिस्थितियों में न घबराना बल्कि और भी अपने मनोयोग से कार्य में जुट जाने की जो क्षमता होती है उसे साहस गुण कहते हैं। योग-पथ लम्बा एवं कठिन है, साथ ही साथ फल की प्राप्ति देरी से होती है। साधक को भीषण कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इस गुण के अभाव में साधक का स्थान एवं आसन एवं प्रकृतिजन्य परिस्थितियों से घबराकर साधना पथ से विमुख होने की सम्भावना अधिक हो जाती है। इसके विपरीत यदि साधक में साहस गुण होता है तो वह प्रतिकूल परिस्थितियों में भी न घबराकर बल्कि और भी मेहनत व उत्साह से साधना में लग जाता है, जिससे योग-पथ में वह निर्विघ्न रूपसे बढ़ता रहता है।

धैर्य :

विवेकपूर्ण लिए गये कार्य के फलाफल के प्रति प्रतीक्षा की जो ऊँची भावना होती है वही धैर्य गुण कहलाता है। इस गुणसे सम्पन्न साधक मान-अपमान, सफलता-असफलता इत्यादि की बगैर चिन्ता किये हुए साधना में लगा रहता है।

सद्ग्रन्थों के अध्ययन एवं सत्संग के उपरान्त विवेकपूर्ण लिए गये नियमों के अनुसार कार्य में पूरी कुशलता के साथ लगे रहने की

योग्यता रहती है उसे ही धैर्य गुण कहते हैं। इसके अभाव में साधक का साधना-पथ से भटकने की संभावना अधिक प्रबल हो जाती है इसके लिए किसी कवि ने कहा भी है—

धीरे धीरे रे मना धीरे सब कुछ होय,
माली सींचे सौ घड़ा ऋतु आये फल होय।

तत्व-ज्ञान—

सार-असार का विवेचन ही तत्व-ज्ञान है। संसार के आकर्षण को मिथ्या (झूठ) एवं ब्रह्म को सत्य मानना ही वास्तविक ज्ञान है। तत्व-ज्ञान की जानकारी होने पर साधक का साधना-पथ में लगाव बनता है, जबकि दूसरी ओर इसके अभाव में साधक का मिथ्या भौतिक सुख सुविधाओं की ओर आकर्षित होने का डर बना रहता है।

योगाभ्यासी के लिए आवश्यक है कि वह योग से सम्बन्ध साहित्य का अध्ययन एवं सत्संगति करे तभी उसे सही अर्थों में ज्ञानकी प्राप्ति होती है और वह जान पाता है कि मानव शरीर पाँच तत्वों के मिलने से बना है, जिसका विनाश अवश्यंभावी है। आत्मा अजर अमर है, जब उसे मानव शरीर के विनाश एवं आत्मा की अमरता का बोध हो जाता है तो वह ईश्वरको ही सर्वस्व मान उसी में समर्पित हो जाता है। वह संसार में रहता हुआ भी मुक्तावस्था को प्राप्त होता है। बौद्धिक स्तर पर उसे जगत, माया, बंधन, मोह आदि का ज्ञान हो जाता है और वह उनसे ऊपर उठता हुआ साधना-पथ में आगे बढ़ता है।

दृढ़ निश्चय—

दृढ़ विश्वास से तात्पर्य है कि दृढ़ संकल्प-शक्ति या धारणा की दृढ़ता से। साधक में इस गुण का होना अत्यावश्यक है। योग-साधना मार्गमें साधक को भीषण कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है एवं फल भी देर से प्राप्त होता है। यदि साधक में इस गुण का अभाव होता है तो उसमें साधना की कठिनाइयों को देखकर भौतिक सुख-सुविधाओं की ओर आकर्षित होने का डर बना रहता है।

दूसरी ओर इस गुण से सम्पन्न साधक कठिन परिस्थितियों एवं फलाफल की चिन्ता किये बगैर पूर्ण मनोयोग से अपनी साधना में जुटा रहता है और निश्चित रूप से सफलता को प्राप्त करता है।

जनसंग का परित्याग—

जनसंग परित्याग का अर्थ है अधिक लोगों से सम्पर्क न करना। अधिक लोगों से सम्पर्क योग में बाधक माना गया है, क्योंकि इससे राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि विकार जाग्रत होता है तो दूसरी ओर साधक को साधना के लिए पर्याप्त समय नहीं मिल पाता है।

अतः योग-साधक को चाहिए कि वह जन-संग से दूर रहे और एकान्त में साधना करे।

योग के बाधक तत्व

योग के निम्नलिखित ६ बाधक तत्व बताये गये हैं—

अत्याहार: प्रयास्च,
प्रजल्पो नियमाग्रह।
जनसंगश्च लौल्यं च,
षड्भिर्योगोविनश्यति॥

अत्याहार—

अत्याहारसे तात्पर्य है आवश्यकतासे अधिक भोजन करना जो कि योगाभ्यास में बाधक बनता है। राजसिक, तामसिक ही नहीं किंतु सात्विकगुण-सम्पन्न भोजन भी यदि आव-

आवश्यकतासे अधिक खाया जाय तो वह साधकमें तमोगुण, निद्रा, आलस्य, प्रमाद, तन्द्रा, क्रोध भय आदि दोषोंको बढ़ाता है। अधिक भोजन लेने से साधक शारीरिक रूप से भी रुग्ण हो जाता है। फलस्वरूप साधना के लिए उसका उचित रूप से बैठना असंभव हो जाता है।

अतः साधक के लिए आवश्यक है कि वह अत्याहार के स्थान पर मिताहार का सेवन करे। इसके लिए कहा भी है –

मिताहारं विनायस्तु,
योगारम्भस्तु कारयेत्।
नानारोगा भवन्तस्य,
किन्चित् योगेन सिद्धयति॥

अर्थात् मिताहार के सेवन बिना साधना में सफल होना असंभव है।

प्रयास—

प्रयास से तात्पर्य समय से अधिक परिश्रम से है। योग में अति प्रयास भी बाधक माना गया है, क्योंकि योग-पथ लम्बा एवं कठिन है, इसमें सफलता देर से मिलती है। यदि अभ्यासमें एकाएक अधिक परिश्रम करता है तो शारीरिक स्तर पर रुग्ण हो जाता है। जिसके कारण मानसिक वेदना बढ़ती है और साधक पूर्ण मनोयोग के साथ अपनी साधना नहीं कर पाता।

अत्यधिक परिश्रम के कारण कभी-कभी साधक शारीरिक रूप से इतना रोग ग्रस्त हो जाता है कि उसका साधना के लिए बैठ पाना ही असंभव हो जाता है। फलस्वरूप योग में आगे बढ़ने के बजाय वह और भी पीछे आ जाता है। अतः साधकों को अधिक प्रयास के स्थान पर क्रम साध्य रूप में नियमित प्रयास करना चाहिए। महात्मा बुद्ध को भी अपने जीवन में मध्यम मार्ग का अनुसरण करने से ही सफलता मिली थी और परम ज्ञान प्राप्त किया था। उनके ही अनुसार— "वीणा के तार को इतना अधिक मत खींचो कि वह टूट जाय और न ही इतना ढीला छोड़ो कि सुर ही न प्रस्फुटित हो।"

प्रजल्प—

प्रजल्प का अर्थ अधिक भाषण या बोलने से है जोकि साधनामें बाधक है। आवश्यकता से अधिक बोलने से असत्य भाषण की सम्भावना अधिक होती है और इसकी प्रतिक्रिया जन-साधारण पर उल्टी होती है। अपनी मान्यता के लागू न होने पर स्वयं के मन में ईर्ष्या, द्वेष, क्रोधादि विकारों का प्राबल्य हो जाता है, जिसके कारण वह एकाग्रचित्त होकर साधना नहीं कर पाता।

दूसरी ओर अधिक बोलने के कारण साधकों के लिए पर्याप्त समय नहीं मिल पाता। अतः साधक के लिए मितभाषी एवं मृदुभाषी होना आवश्यक है। संत कबीरजी ने भी किसी चीज की अधिकता को बुरा माना है—

अति का भला न बोलना,
अति की भली न चूप।
अति का भला न बरसना,
अति की भली न धूप॥

नियमाग्रह—

नियमाग्रह का अर्थ है योग में बताये गये नियमों को कड़ाईसे पालन करें। अधिक कड़ाई योग में बाधक माना गया है। उदाहरण के लिए—योगमें स्वच्छता या शुद्धताको अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया है, यह एक नियम है, किन्तु इसके लिए ठंडे प्रदेशमें ठंडे जलसे प्रातःकाल स्नान करना साधकके लिए सहायक नहीं है। इस प्रकार का शौच शरीर में रोग-वृद्धि

करता है व शीत-रोग, बुखार, जुकाम आदि हो जाता है, जिससे साधक शारीरिक व मानसिक रूप से विकार-ग्रस्त हो जाता है एवं साधना के लिए उचित समय नहीं दे पाता। अतः इस प्रकार के नियमों का त्याज्य ही श्रेयस्कर है।

जनसंग—

जनसंग से अभिप्रायः अधिक लोगों के सम्पर्क से है। ऐसा करने से साधक में दो प्रकार के लगाव आते हैं—लगाव एवं दुराव। दोनों के कारण साधक के स्तीत्व में राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान-अपमान, ईर्ष्या आदि विकारोंका बाहुल्य हो जाता है एवं वह मानसिक स्तर पर अस्थिर मन का हो जाता है। दूसरी ओर जनसंग के कारण प्रजल्प की सम्भावना बढ़ जाती है जोकि अपने आप में योग के लिए बाधक तत्व माना गया है। साथ ही साथ प्रजल्प के कारण साधक को साधना के लिए पर्याप्त समय नहीं मिल पाता। अतः साधक के लिए आवश्यक है कि वह अधिक लोगों के सम्पर्क को त्याज्य करें एवं एकान्त साधना करें।

लौल्यं—

लौल्य से तात्पर्य अस्थिर मस्तिष्क से है, यह भी योगाभ्यास में बाधक माना गया है। योग-साधना के लिए स्थिर मस्तिष्क का होना आवश्यक है। इसके अभाव में साधक स्थिर मन से कभी साधना पर बैठ ही नहीं सकता। फलस्वरूप उचित रूप से साधना करते हुए भी उसे सफलता नहीं मिलती। यह स्पष्ट ही है कि योग-पथ लम्बा एवं कठिन है। ऐसी स्थिति में अस्थिर मस्तिष्क वाले साधक को भौतिक सुख सुविधाओं की ओर आकर्षित होते हुए योग-पथ से विमुख होने का डर हमेशा बना रहता है। अतः साधना के लिए आवश्यक है कि स्थिर मन से अपनी साधना में लगा रहे।

—※—

आत्मा के लिंग अर्थात् चिह्न

इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख-दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।

—वैशेषिक दर्शन

अर्थात्

इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख-दुःख आत्मा के लिंग अर्थात् उसकी पहचान के चिह्न हैं। ऐसा वैशेषिक दर्शन का मत है।

शरीर में इन गुणों का होना ही आत्मा की उपस्थित का प्रमाण कहा जा सकता है। क्योंकि आत्मा के शरीर छोड़कर चले जाने पर इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख और ज्ञान की कुछ भी अनुभूति देह को नहीं होती और न किसी प्रकार का कोई प्रयत्न या चेष्टा करना ही सम्भव हो पाता है। आत्मा शरीर से एक भिन्न चेतन तत्व है। इस चेतन तत्व के अभाव में प्राणतत्व अर्थात् श्वास-प्रश्वास और चक्षु उन्मीलन आदि की कोई भी क्रिया नहीं हो पाती।

प्राण क्या है ?

श्री ब्रह्मचारी ओमप्रकाश पालीवाल

ब्रह्म श्वास-स्वरूप है। प्राण परमात्मा की विशेष शक्ति है। अव्यक्त ब्रह्म से प्राण की उत्पत्ति है—"आत्मनएषजायते प्राणः"। सृष्टि स्थिति और नाश ये प्राण की लीलामात्र है, सब भूतों की स्थिति प्राण से ही है। यह आत्मा आदि में अर्थात् पिता में, मध्य में अर्थात् जब तक जीवित है, पुनर्जन्म में भी यही श्वास रहता है। श्वास जीव की आयु है, इस श्वास का संबल लेकर ही जीव जगत में आता है। सूत्ररूपी प्राण जन्म से जन्म के पूर्व पिता के प्राण में, जन्म होने पर जीवनमें और मृत्यु के परे भी यही श्वास सूत्रात्मा रूप में वर्तमान रहता है अन्यथा पर-जन्म में कौन जन्म ग्रहण करेगा ? इस श्वास के प्राणायाम की साधना के द्वारा स्थिर कर लेने पर सर्व भूत—स्थित तथापि निर्लिप्त आत्मा का संधान मिलता है। श्वास या प्राण को ब्रह्म-आत्मा क्यों कहते है ? प्राण की चञ्चल अवस्था ही श्वास है। यही चञ्चल प्राण जब स्थिर होता है तो वह कूटस्थ अक्षर या ब्रह्म है। प्राण और उससे उत्पन्न मन, इन्द्रि-यादि सब प्राण के स्थिर होने पर ब्रह्मस्थिति प्राप्त करते हैं अर्थात् सब स्थिर होकर ब्रह्म-मय हो जाते हैं। इस ब्रह्म में रहने का ही नाम गायत्री उपासना है। प्राण गायत्री-स्वरूप है। इस प्राण की उपासना से प्राण पाया जाता है, इसलिए यही गायत्री है और यह गायत्री ही ब्रह्म है। इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना ये गायत्री के तीन पाद हैं। क्रिया की परावस्था में ये तीनों पाद एक हो जाते हैं अथवा इन तीनों को एक कर लेने पर क्रिया की परावस्थारूप ब्रह्मपद या मोक्ष है। तैत्तिरीय उपनिषद् में लिखा है—"भूर्भुवः स्वः भूरिति वै प्राणः भुव इत्यपानः स्वरिति व्यानः।" अर्थात् भूः प्राण, भुवः अपान और स्वः व्यान वायु है। वायु क्रिया करने पर सब कुछ प्राप्त हो जाता है। उपनिषद् में लिखा है—'नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।' हे वायु! तुमको नमस्कार है, तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, क्योंकि यह प्राण ही ब्रह्म का प्रत्यक्ष प्रकाश या शक्ति है और प्राण की साधना से ही ब्रह्मपद प्राप्त होता है। तैत्तिरीय उपनि-षद् में लिखा है—'प्राणो वै सत्यम्' प्राण ही सत्य ब्रह्म है। कारण यह है कि प्राण के बिना किसी भी वस्तु का कुछ ज्ञान नहीं होता या "अदिति सम्भवति अदितिर्देवतामयी"। सर्व देव स्वरूप जो देवता है, वह प्राण-शक्ति के साथ अर्थात् सगुण ब्रह्म से क्रिया रूपमें उत्पन्न होते हैं।

ऊर्ध्वं प्राण मुन्नयत्य,

पानं प्रत्यगस्यति।

मध्ये वामनमासीनं

विश्वे देवा उपासते।

वायु की ऊर्ध्व गति का नाम प्राण है, अधोवायु का नाम अपान है। प्राणायाम के द्वारा दोनों वायु की स्थिति हृदय में होने पर साधक उसमें मन स्थापित कर ब्रह्म की उपासना करता है, इस अवस्था को प्राप्त साधक देवता है। उपासना करते-करते वह ब्रह्म में लीन हो जाता है। वही प्राणों का प्राण है—"प्राणं देवा अनुप्राणन्ति मनुष्याः पशवश्च ये स प्राणस्य प्राणः।" अतएव जितने भूत हैं सबके भीतर प्राणवायु है। यह मूलाधार में रहकर मूलाधार, स्वरूप सबका आधार हो रही है। प्राण की क्रिया करने पर उसका दर्शन होता है और अन्त में साधक स्वयं वही हो जाता है। प्राण के रहने से ही समस्त भूतादि प्रकाशित होते हैं। प्राण के स्थिर होकर ब्रह्म में मिलने पर सारे भूत भी ब्रह्म में मिल जाते हैं। प्राण, अपान और व्यान की क्रिया ही यथार्थ क्रिया है। क्रियाकी परावस्थामें जो स्थिति होती है वही तुरीयावस्था है। व्यान की क्रिया के द्वारा ही यह स्थिति पद प्राप्त होता है।

ब्रह्म में सूक्ष्म और स्थूल रूप से पंचतत्त्व रहते हैं—

(१) प्राणवायु—मूलाधार से सहस्रार-पर्यन्त चलती है, यह प्राणवायु पंचतत्त्वों में आ जा रही है, इसी से सब जीवित हैं।

(२) अपान—अपान की क्रिया है निःसरण करना। प्राण, अपान के साथ ऊर्ध्वगामी हो रहा है। इसी कारण शरीर के समस्त मार्गों से स्वेद निकलता रहता है, स्थान स्वाधिष्ठान के नीचे है।

(३) उदान—उदान वायु की क्रिया है ऊर्ध्वगमन करना अर्थात् डकार, छींक, हिचकी आदि यह उदान प्राण के साथ ऊर्ध्वगमन कर रहा है, स्थान मणिपुरक में है।

(४) व्यान—व्यान वायु की क्रिया सर्वांग में होती है। यह व्यान भी प्राण के साथ ऊर्ध्वगमन कर रहा है, स्थान हृदय में है।

(५) समान—समान हृदय से स्थिर होकर नाभि में समान भाव से रहता है। इसके सर्वदा इस अवस्था में रहने पर पीड़ा नहीं होती।

क्रिया की परावस्था में प्राण हृदय में अटका रहता है। सूक्ष्म ब्रह्म में जो सब वायु सूक्ष्म रूपमें हैं, इसी का ... स्थान में ... रहते हैं। प्रकृति—पञ्चतत्त्व, मन, बुद्धि, अहङ्कार। पुरुष को यदि प्रकृति में न होते तो किसी वस्तु का अनुभव नहीं होता। गुण सभी श्वास के भीतर ही सूक्ष्म भाव से स्थित रहते हैं। मृत्यु होने पर ये सब श्वास के साथ मिलकर चले जाते हैं और देह ग्रहण करने के समय श्वास के साथ ही देह में अभिभूत होते हैं। अतएव श्वास रूपी प्राण समस्त प्राणों में आदि, मध्य और अन्त में वर्तमान रहता है।

देहधारी जीवमात्र का प्राण ही वायु या प्राण है। प्राण, अपान और समानके शामिल होने पर शरीर नहीं रहता। जब प्राण गमन नहीं करता तो उसका स्थिर भाव "अर्धमात्रा" कहलाता है, ... वायु स्थिर रहती है। पहले वायु मस्तक में आवद्ध जाती है, तत्पश्चात् हृदय में जाती है, फिर मूलाधार में स्थिर होती है, यही ओम्, मन और वायु हैं। ये तीनों साथ मिलकर ओंकार होते हैं। मस्तक मस्तक से हृदय और हृदय मूलाधार—इन तीन ग्रन्थियों को बेधकर जैसा पर कण्ठ और तालु-पर्यन्त वायु स्थिर रहती है। इसका नाम ऋचा है, यही गायत्री है सुषुम्ना सूक्ष्म वायु जो तन्तु के समान अति सूक्ष्म है।

यही सच्चा है अर्थात् अपने आपको जानने का मन्त्र है। यह चञ्चल मन को दूसरी ओर नहीं जाने देती और क्रिया की परावस्था का स्थिरत्व जो निज-बोध-स्वरूप है, उसको अनुभव करा देती है।

प्राण की उपासना करने पर प्राण के जो आश्रय हैं, उनमें उपासक का लक्ष्य पड़ता है। प्राण का स्थिर भाव ही आत्मा है। प्राणायाम के द्वारा प्राण स्थिर होते ही प्राण आत्म-सत्ता के साथ एक हो जाता है, इसी का नाम है प्राण-प्रतिष्ठा। प्राणायाम के द्वारा योगी को प्राणमय-ग्रन्थि के भेद होने पर अखण्ड प्राण-प्रतिष्ठा या स्थिर प्राण का अनुभव होता है। जब तक प्राण है तब तक सब कुछ वर्तमान है। प्राण के स्थिर होते ही समस्त दृश्य पदार्थों का विनाश हो जाता है। प्राण जब तक चक्षु में है तब तक जाग्रत अवस्था रहती है और जब तक प्राण कण्ठ में है तब तक स्वप्न अवस्था रहती है और जब तक प्राण हृदय में है तब तक सुषुप्ति अवस्था रहती है और जब तक प्राण मस्तिष्क में है तब तुरीय अवस्था होती है। हृदय देखते ही मन आँखों में आ जाता है, मनके आ जाने पर सृष्टि होती है। इस अवस्था का देवता ब्रह्मा है। यही मन कण्ठ में रहकर, देख-सुनकर किंकर्तव्य-विमूढ़ के समान मानो स्थिर हो जाता है। इस स्थिति के अधिष्ठाता विष्णु हैं। इस प्रकार मग्न रहने के बाद सब नष्ट हो जाता है, उस नाश का देवता रुद्र है। यह सृष्टि, स्थिति, प्रलय है अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र हैं। इसके आगे मूर्धा में तुरीय अवस्था है, जो अक्षर ब्रह्म है। ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है, तब "हृदि प्राणः प्रतिष्ठतः" हृदय में प्राणवायु की प्रतिष्ठा अर्थात् स्थिति होती है। स्थिर होते ही सब कुछ ब्रह्ममय हो जाता है। यही ब्रह्म के चार पाद अर्थात् चार स्थानों में स्थिति है—नाभि, हृदय, कण्ठ और मूर्धा।

—कुछ उपयोगी योगासन—

१. पादांगुष्ठ-नासाग्र-स्पर्शासन—पृथिवी पर समसूत्र में पीठ के बल सीधा लेट जाय। दृष्टि को नासाग्र में जमा कर दायें पैर के अंगूठे को पकड़कर नासिका के अग्र भाग को स्पर्श करे, इसी प्रकार पुनः-पुनः करे, मस्तक बायाँ पैर और नितम्ब पृथिवी पर जमे रहें। इस प्रकार दायें पैर को फैलाकर बायें पैर के अंगूठे को नासिका के अग्र भाग से स्पर्श करे। फिर दोनों पैरों के अंगूठों को दोनों हाथों से पकड़कर नासिका के अग्र भाग को स्पर्श करे। कई दिन के अभ्यास के पश्चात् अंगूठा नासिका के अग्र भाग को स्पर्श करने लगेगा।

फल—कमर का दर्द, घुटने की पीड़ा, कंठ-स्थान की शुद्धि एवं उदर सम्बन्धी सर्व रोगों का नाश करता है। यह आसन स्त्रियों के लिए भी लाभदायक है।

२. पश्चिमोत्तानासन—दोनों पाँवों को उड्डीयान और मूलबन्ध के साथ लम्बा सीधा फैलावे। दोनों हाथों की अंगुलियों से दोनों पैरों से खींचकर, शरीर को झुकाकर, माथे को घुटने पर टिका दे, यथा शक्ति वहीं पर टिकाये रहे। प्रारम्भ में दस-बीस बार शनैः-शनैः रेचक करते हुए मस्तक को घुटने पर ले जाय और इसी प्रकार पूरक करते हुए ऊपर उठाता चला जाय।

फल—पाचनशक्ति का बढ़ाना, कोष्ठबद्धता दूर करना, सब स्नायु और कमर तथा पेट की नस-नाड़ियों को शुद्ध एवं निर्मल करना, बढ़ते हुए पेट को पतला करना इत्यादि।

जीवन्मुक्त पुरुष के लक्षण

● श्री जगदीशनारायण उपाध्याय

[यह लेख लेखक श्री जगदीशनारायण जी उपाध्याय के पूर्व प्रकाशित 'सर्वश्रेष्ठ ज्ञान—ब्रह्मज्ञान और उसके लक्षण' शीर्षक लेख का अवशेषांश है जिसे इस अंक में दिया जा रहा है।

—सं० सम्पादक]

पहला लक्षण—

सर्वातीत पदालम्बी,
पूर्णेन्दु शिशिराशयः।
यस्तिष्ठति सदा योगी,
स एव परमेश्वर ॥
(योगवाशिष्ठ ३)

भावार्थ—ब्रह्म के साथ चित्त को एक करके जो योगी स्थिर रहता है, वह परमेश्वर ही है अन्य नहीं। वे ज्ञानी पुरुष ब्रह्म स्वरूप का ही आश्रय करते हैं, तल्लीन और तद्रूप होकर रहते हैं और पूर्ण चन्द्रमा के समान उनका चित्त शीतल हो जाता है। ज्ञान-योगी इस प्रकार शांत ब्रह्म हो जाते हैं। अंतःकरण के साथ उनकी ग्रंथि (अहंकारके साथ आत्मा का ऐक्य भ्रम) विनष्ट हो जाती है। वे निरहंकार साक्षी स्वभाव में स्थित रहते हैं।

दूसरा लक्षण—

ब्रह्मोपनिषदां तत्त्वं,
भावयन् योऽन्तरात्मना।
नोद्वेगो न दुष्टात्मा,
संसारे नावसीदति ॥
(योगवाशिष्ठ ४)

भावार्थ—यहाँ 'हृष्टात्मा' ऐसा भी पाठान्तर देखा जाता है। जो लोग ब्रह्म प्रतिपादक उपनिषदों के तत्व का हृदयमें चिंतन (निदिध्यासन) करके हर्ष-विषाद रहित हो जाते हैं वे सांसारिक दुःखों से मुक्त हो जाते हैं। जिनका चित्त एकरस चिदानन्द-स्वरूप में स्थित नहीं होता। वे सब दुःखी ही रहते हैं, सुखी नहीं हो सकते। जिन्होंने उपनिषत्प्रतिपाद्य ब्रह्म में अपनी बुद्धि को निश्चल रूप में स्थापित कर लिया है, वे ही जीवन्मुक्त और परम सुखी हैं। उनका मन सर्वदा स्वरूप के अनुसंधान में स्वयं निमग्न रहता है।

तीसरा लक्षण—

अन्तर्मुखतया तिष्ठन्,
बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन्।
परिश्रान्ततया नित्यं,
निद्रालुरिव लक्ष्यते ॥
(योगवाशिष्ठ ९)

भावार्थ—बाह्य इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण करके भी ज्ञानी अपने निर्विकार साक्षीस्वभाव में स्थित रहते हैं और सर्वदा निद्रितकी तरह लक्षित होते हैं क्योंकि जाग्रदशा में भी वे सांसारिक तापसे निवृत्त रहते हैं। देहेन्द्रियादि द्वारा व्यवहार करने के समय भी आत्मवेत्ता अपने कूटस्थ में ही उसी प्रकार स्थित रहते हैं। जिस प्रकार आकाश सर्वदा अवकाश स्वरूप में ही अवस्थित रहता है।

चौथा लक्षण—

अद्वैते स्थैर्य मायाते,
चित्ते च प्रशमं गते।
योगिनः कर्मकुर्वन्ति,
पश्यन्ति स्वप्नवज्जगत् ॥
(योगवाशिष्ठ १०)

भावार्थ—चित्त में शान्ति प्राप्त हो जाने

और स्थितप्रज्ञ कहते हैं विद्वान्। प्राप्त हो जाने पर भी योगीजन जगत् को स्वप्न-प्रपंच समान देखकर कर्म करते रहते हैं। ब्रह्मज्ञान में जिन्हें आत्म-साक्षात्कार हो गया है, वे कर्म करने पर भी बन्धन को प्राप्त नहीं होते। योगीजन अपने अद्वैत स्वरूप में सर्वदा अटल स्थित रहते हैं। उनके अन्तःकरण में किसी तरह द्वैत-बुद्धि जाग्रत नहीं होती, चित्त सदा शान्त और निर्मल रहता है।

पाँचवाँ लक्षण—

अद्यैव मरणं चास्तु,
कल्पान्ते चिरयेन वा।
तज्ज्ञः कलङ्कं नाप्नोति,
हेम पङ्कगतं यथा॥

(योगवाशिष्ठ ११)

सदेह दिखलाई पड़ने पर भी ज्ञानी वस्तुतः देह-रहित होता है। जीवन्मुक्त पुरुष को देह-त्याग के अनन्तर अधिक कुछ प्राप्तव्य नहीं रह जाता। देह-सहित होने पर भी उसके चित्त (ब्रह्म) स्वरूप में न्यूनता नहीं रहती, जीवन्मुक्त विदेहमुक्त होने की आशा नहीं करता। सदेह अवस्था में उसे अज्ञान की किसी प्रकार की बाधा (बन्धन) नहीं रहती, क्योंकि अपरोक्ष साक्षात्कार के फलस्वरूप वह स्वयं निर्विकार ब्रह्मरूप हो जाता है। आज ही मरण हो जाय चाहे कल्पान्त तक जीवन रहे, ज्ञानी कभी बन्धन को प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार सुवर्ण कीचड़ में फेंक दिये जाने पर भी अशुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी भी जीवन-मरण से बद्ध नहीं हो सकता।

छठवाँ लक्षण—

तनुं त्यजतु वा काश्यां,
श्वपचस्य गृहेऽथवा।
ज्ञान सम्प्राप्ति समये,
मुक्तोऽसौ विगताशयः॥

(योगवाशिष्ठ १२)

भावार्थ—जीवन्मुक्त के शरीर द्वारा सत्कर्म सम्पादित हों, चाहे असत्कर्म, उनका देहपात तीर्थ-स्थानमें हो या अपवित्र चाण्डाल गृह में, इसमें उनको कोई हानि-वृद्धि नहीं होती। तत्त्वज्ञ पुरुष काशी में देह-त्याग करे या चाण्डाल के घरमें, वे मुक्त ही हैं। क्योंकि ज्ञान प्राप्ति के समय ही उनका चित्त (लिङ्ग शरीर) नष्ट हो जाता है। अविद्या और अन्तःकरण के साथ वासनाभास के नष्ट हो जाने से जीव मुक्त हो जाता है, स्थूल पंचभूत देह के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ज्ञानीजन स्वयं प्रकाश अद्वैत आत्म-स्वरूप में निमग्न रहने से सर्वदा मुक्त रहते हैं।

सातवाँ लक्षण—

गोष्पदं पृथिवी मेरुः,
स्थाणुराकाशमुद्रिका।
तृणं त्रिभुवनं राम,
नैराश्यालङ्कृताकृतेः॥

(योगवाशिष्ठ १३)

भावार्थ—हे राम! जो सभी आशायें छोड़कर शोभित होते हैं, उन तृष्णा रहित पुरुषों की दृष्टि में पृथिवी गोष्पद के समान, मेरु पर्वत स्तम्भ के समान, आकाश अँगूठी के समान और त्रिभुवन तृण के समान अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होता है। सारांश, जो सर्वथा निस्पृह हो गये हैं, वे ही श्रेष्ठ हैं। उनकी दृष्टि में सभी अनात्म वस्तुयें असत्य हो जाती हैं। आत्मस्वरूप में रसानुभव होते-होते जीवन्मुक्त पुरुष को ऐसी अवस्था प्राप्त

(● शेष पृष्ठ ३६ पर)

दश-विद्या में—

बगलामुखी देवी की उपासना

● प्रेषक—श्री राजन जैसवाल

मङ्गलाशंसा—

भवानी बगलामुखी अपने कर-मुद्गर द्वारा शत्रु की जिह्वा का संशोधन कर स्वकीय मंत्र की साधना करने वाले साधकों का सम्मान करती है तथा जो दोनों नेत्र बन्द कर शिव के चरणों में मन लगाये हुए है, उन भक्तों को मोक्ष प्रदान करती है। साधक ब्रह्म-मुहूर्त में नींद और शय्या को त्याग कर उठें और धरती पर चरण रखने से पूर्व देवी पृथ्वी से क्षमा-याचना करें कि 'हे देवी! आप मेरी जननी हैं, परन्तु मैं संसार के कार्यों को करने के लिए आपके ऊपर चरण रखने को उद्यत हूँ', इस प्रकार मुझे क्षमा कर दीजियेगा। फिर धरती पर पाँव रखने के पश्चात शौच से निवृत्त हो निम्न प्रकार से दन्त-धावन एवं स्नान करें।

दन्त-धावन—

"ॐ क्लीं कामदेवाय सर्व जनप्रियाय नमः।" इस प्रकार दाँतों को धोकर शुद्ध करें। इसके पश्चात् निम्न विधि से स्नान करें—

नाभि तक गहरे जल में खड़े होकर संकल्प करें—"ओमद्येत्यादि देशकालौ सङ्कीर्त्य श्री बगलामुखी प्रीत ये स्नान मह करिष्ये।" इसके पश्चात् मूल-मन्त्र से प्राणायाम करें। जैसे हाथों में जल लेकर श्वांस रोककर सूर्य को जल अर्पित करें। फिर दाईं नासिका से श्वांस छोड़ें, इस क्रिया को आठ बार दोहरायें।

फिर अंकुश मुद्रा के द्वारा 'गंगे च यमुने चैव' इस प्रकार गङ्गा आदि तीर्थों का आह्वान करें। "अंकुश के समान हाथ बनाकर यह मुद्रा बनती है।" इसके बाद साधक ब्रह्म-रन्ध्र में सहस्रार की कर्णिका में विराजमान गुरुदेव स्वरूप शङ्कर का ध्यान करें, यह बताया जाता है।

शिव-ध्यान—

मस्तक के सहस्रार-चक्र में मेरे गुरुदेव भगवान विराजमान हैं। उनकी अङ्ग-कांति श्वेत है, उनके अनुलेपन, पुष्प-माला तथा वस्त्र भी श्वेत हैं। उनकी प्रियतमा पार्वती बाँयें हाथ में लाल पुष्प (कमल) लिये हैं। फिर दाँये हाथ से शिव का गाढ़-आलिंगन करके स्थित हो गुरुदेवजी के नेत्र-बिन्दु हलाहल पान के कारण लाल दिखाई देते हैं, इस प्रकार शम्भु स्वरूप का ध्यान करें।

गुरु-पादुका मन्त्र—

'ॐ ऐं ह्रीं श्रीं हस्खफ्रें ह स क्ष म ल व र यूं, स ह क्ष म ल व र यीं ह्सौः स्हौः श्रीविलासानन्द नाथ पादुकां पूजयामि इति।' इसके बाद गुरु-स्तवन करें, इसके 'अनु' भावना द्वारा ध्येय स्वरूप को हृदय में लीन करें। फिर मूलाधार-चक्र से लेकर मस्तक तक विराजमान भगवती कुण्डलिनी-शक्ति का चिन्तन करें। फिर पीताम्बर देवी बगलामुखी का निम्न प्रकार से मानसिक पाँच उपचार द्वारा अर्थात् पूजा करें—

'हे देवी ये सुन्दर सुगन्धित पुष्प मैं आपको अर्पित करता हूँ।'

'हे देवी ये शुद्ध घी से तैयार किया हुआ धूप है। कृपा इसे स्वीकार करें।

'हे पीताम्बरा भगवती इस उच्च ज्योतिमय दीप को मैं आपके चरणों में अर्पित करता हूँ।

'हे दुर्गे इस अमृत के समान नैवेद्य मैं आपके चरणों में समर्पित करता हूँ।

'हे प्रणेश्वरी कृपा इस ताम्बूल को ग्रहण करो।

इस प्रकार देवी की पूजा करने के पश्चात् प्रातः स्मरण स्तोत्र का पाठ करें।

प्रातः स्मरण स्तोत्र—

'मैं प्रातःकाल विकसित कमल दल के समान विशाललोचना तथा चन्द्रमा के समान पीतवर्ण बगला मुखी देवी का चिन्तन करता हूँ जो भक्तजनों के शत्रुओं का दलन करने के लिए दोनों हाथों में शिलाखण्ड को लिये हिमालय पर विराजमान हैं वे देवी मदमत्त चित्त होकर शिवस्वरूप शवासन पर आरूढ़ होती हैं।

इस स्मरण के पश्चात देवी की प्रार्थना करें।

'देवी पीताम्बरे! तीनों लोकों में जो चेतना है वह तुम्हारा ही स्वरूप है। तुम ईश्वरकी भी अधीश्वरी हो, मैं तुम्हारे चरणों की आज्ञा से तुमको प्रिय लगने वाला कार्य करता हूँ। तुम्हारा मुख-मण्डल ऐसा है। जैसे करोड़ों शशि चमक रहे हों। परमेश्वरी मैं धर्म को जानता हूं परन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। मैं अधर्म को भी समझता हूँ परन्तु उसमें मेरी निवृत्ति नहीं हो सकती। कृपया कोई ऐसा उपाय करें, जिससे मैं अधर्म से निवृत्त हो जाऊँ। आपका सिंहासन ऐसा लाल है। जैसे सुबह अरुण उदय हो रहा है।

बगला का मूल मन्त्र

ॐ अस्य श्री बगला गायत्री मन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः, गायत्रीछन्दः बगला नाम्नी चिन्मय शक्ति स्वरूपाणि गायत्री देवता के बीज ह्रीं शक्ति, धिम्हे कीलकं गायत्री जपे विनियोगः।

ॐ ह्रीं ब्रह्मास्त्राये विद्महे स्तम्भनाएँ धी महि तन्नो बगला प्रचोदयात्।

शत्रुमारण मन्त्र

ॐ ह्रीं बगला मुखी सर्व दुष्टानां वाचं मुखं पदं स्तम्भय जिह्वा कीलय-कीलय बुद्धि विनाशय ॐ।

(इस मन्त्र का गलत उच्चारण करने से उल्टा प्रभाव होता है।)

(पृष्ठ ४४ का शेष)

हो जाती है कि उसकी दृष्टि में किसी अन्य पदार्थ का भान ही नहीं रह जाता।

अतः आज सभी साधकों से इस साधक का अनुरोध है कि—'योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते' के अनुसार—सद्गुरु धारा से पुनः प्राप्त की गयी इस वैदिक धर्म-ज्ञान-विज्ञानसे युक्त-ब्रह्म ज्ञान या (अध्यात्मवाद) की प्राप्ति करें, ताकि भौतिकता की तरफ लोगों की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोका जा सके क्योंकि व्यक्ति ही समाज का निर्माण करता है। सिद्धों, सन्तों और सद्गुरुओं से प्राप्त होने वाला यह वैदिक ज्ञान ही सारे विश्व को विनाश के खतरे से उबार सकता है। वेदान्त दर्शन ही ऐसा तत्व चिन्तन है जो विश्व को वैकल्पिक विचारधारा दे सकता है।

अहिंसावतार : श्री गांधी

● श्री डा० महेन्द्रप्रकाश गुप्त

ओ रे शाश्वत सत्य के देवता
विराट विश्व के शान्ति-दूत तुम
अनन्त के संदेश वाहक
प्रकाश-पुञ्ज से
मानवीय संस्कृति के सपूत तुम
की तुमने यहाँ
निरन्तर सत्य की साधना
आस्था और आत्म-विश्वास के बल पर
समिष्टि की आराधना
खुल गये किवाड़ तब
समिष्टि दिव्य-ज्योति के
शान गुण महक उठे
मणि-कञ्चन योग से
निस्सीम स्मृति के
बन्द हो गये द्वार सब
अहं व्यापार के
डूब गये स्वप्न सारे
तुच्छ मनोविकार के
पावित्र्य और प्रेम के निर्झरों से
टपकने लगा दिव्य रस
क्रान्ति की अग्नि में स्वर्ण सा निर्मल
निखरने लगा प्रतिभा का यश
जाग गया विश्व तब
मनुष्यता के देवता की हुंकार से
स्नेह के सुमन झरने लगे
लता लिपटी तरु की डार से

शान्ति-दूत के साथ शान्ति रस में डूबी
हजारों गोपिकायें प्रव्रज्या ले रही थीं
एक ही साधना थी एक ही आराधना थी
समर्पण सर्वस्व का वे दे रही थीं
गाँधी के साथ हो लिये अनेक ग्वाल-बाल
गोपियाँ
तिरंगा ध्वज हाथ में था सिर पर थी खद्दर
की टोपियाँ
न कोई पुरुष था न कोई नारी
वासना और कामना रहित
हर आत्मा थी ब्रह्मचारी
भोगी भोग को भोगकर रो रहा है
त्याग से इन्द्रियों का वर्णन युगों से हो रहा है
गाँधीजी में शालीनता का
ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा का
विलक्षण चमत्कार था
देश-जाति-धर्म के उर पर
सद् कर्त्तव्यों का उनका
एक अपना संसार था।
निन्दा को सहन कर भी
जो शान्त चित्त था स्थिर था
गम्भीर, प्रभु चिन्तन में लीन
एक सूरज सा दैदीप्यमान कर्मवीर था
सामर्थ्यवान होकर भी
अत्याचारों को सहता था
विगत अनेक वर्षों से

मनुष्यता का सच्चा परीक्षण होता है
घटाटोप दुःखों में, शत्रुओं से
गाँधीजी शान्त सुव्यवस्थित
लोक-भावना का प्रतिनिधित्व कराने वाले
महात्मा थे
पथ-भ्रष्टों को निर्दिष्ट मार्ग दिखाने वाले
एक पुरुषार्थी सन्त थे
इसीलिए हत्यारे गोडसे के
मन के महासन पर देखा जिसने राम को
आनन्द के सीमाहीन समुद्र में उठते
प्रेम के अमित रूप घनश्याम को
इसलिए निकल पड़े थे शब्द उदार
राम-राम के संदेश से
काँप उठी थी यह वसुन्धरा
उनके शील के इस उपदेश से
गहन शान्त अनुभूति को
चिन्तन या मान लिया आप ने

जन्म लेकर फिर प्राण दे दिये
शूली नहीं गोली से ईसा महान ने
क्योंकि अतीत का था दधीचि वह
उसकी वर्तमान का
एक दक्ष चित्रकार था
भविष्य का था वह
भव्य देवता
साक्षात् मनुष्यता का अवतार था
शत्रुओं का था वह शान्ति-दूत
माँ भारती का वह पुत्र सुकुमार था
जीवमात्र के लिए
आँखों में थे अश्रु-बिन्दु
उच्छ्वासों में उनके
अगाध प्यार था
दिव्य सौन्दर्य से युक्त
वह एक वास्तव में
कुशल कलाकार था।

जीवन-साथी

प्रकृति-पुरुष के मधुर-मिलन का, विधि ने यहाँ लगाया मेला।
द्वैत भरा पथ है जीवन का, मिला न कोई यहाँ अकेला॥
यों तो संगी है बहुतेरे, कुछ दुःख के कुछ सुख के साथी।
पर जो जीवन में रस भरते, वे होते हैं जीवन-साथी॥
ऐसा जीवन साथी पाकर, जीवन रसमय हो जाता है।
दुर्गम पथ सुगम बन जाता, दैन्य दुःख सब खो जाता है॥

—'दिव्य'

श्री गुरुदेवजी के आगामी योग-प्रचार कार्यक्रम

गुना (म० प्र०) कार्यक्रम के पश्चात् श्री गुरुदेवजी ३ जनवरी, ८९ को बनारस प्रस्थान करेंगे। बनारस में ४ जनवरी ८९ से ८ जनवरी, ८९ तक योग-प्रचार कार्यक्रम एवं आगे के कार्यक्रम निम्न प्रकार रहेंगे।

दिनांक ४-१-८९ से दिनांक ८-१-८९ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम बनारस पता—द्वारा श्री आत्मप्रकाश सिंह एडवोकेट एस० १५/२७६, नदेसर वाराणसी (उ० प्र०)
दिनांक ९-१-८९	को	प्रस्थान मिर्जापुर के लिए
दिनांक १०-१-८९ से दिनांक ११-१-८९ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम मिर्जापुर पता—द्वारा श्री भूतनाथ अमर वैद्य श्री सोमनाथ आयुर्वेद भवन डंकीनगंज मिर्जापुर (उ० प्र०)
दिनांक १२-१-८९ से	को	प्रस्थान कुम्भ मेला इलाहाबाद को
दिनांक १२-१-८९ से दिनांक २६-१-८९ तक		कुम्भ-मेला में निवास रहेगा। पता—द्वारा श्री विनय मालवीय ४५७, मालवीय नगर इलाहाबाद (उ० प्र०)

नोट—उपरोक्त कार्यक्रम में श्री गुरुदेवजी की इच्छानुसार किन्हीं विशेष परिस्थितियों वश परिवर्तन भी किया जा सकता है।

मूल्य वृद्धि की सूचना

कागज तथा मुद्रण सामग्री के मूल्यों में अप्रत्याशित वृद्धि हो जाने के कारण 'सिद्धयोग' के वार्षिक मूल्य में ५ रु० की वृद्धि की जा रही है अर्थात् 'सिद्धयोग' का वार्षिक मूल्य नये वर्ष से जो अप्रैल, ८९ ई० से शुरू होगा, ४० रु० रहेगा। ग्राहक भाई-बहनों को नये वर्ष का मूल्य ४० रु० वार्षिक के हिसाब से भेजना चाहिए।

—व्यवस्थापक

लेखक बन्धुओं से

'सिद्धयोग' के सभी गणमान्य लेखक और सुकवि बन्धुओं से निवेदन है कि वे विशेषांक हेतु अपनी योग-परक मौलिक लेख व कविताएं भेजने की कृपा करें।

—सं० सम्पादक

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG 001 JANUARY 1989

PRINTED MATTER
Book-Post

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धयुक्त योग प्रशिक्षण केन्द्र, ( ) आगरा।

सेवा में
श्री
१८८७
रमेश दरबोदिया S/o मु शोराम दरबोदिया
बाबा हरीदास का मन्दिर दरापुरा
मुरैना म० प्र०

ब्रह्म पुरी—हृदय

[illegible]

—श्री [illegible]